विश्वप्रपंच

[दूसरा भाग]

लेखक—

रामचंद्र शुक्ल

१६७८

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस में मुद्रित

मूल्य १)

विषय-सूची ।

विश्वप्रपंच

[दूसरा भाग]

पहला प्रकरण

आत्मा का अमरत्व

अब हम आत्मा के अमरत्व-संबंधी सिद्धांत की परीक्षा में प्रवृत्त होते हैं जिसकी नींव पर अनेक प्रकार के अंधविश्वासों का गढ़ खड़ा किया गया है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर दार्शनिक विचार करते समय प्रायः लोग अपने व्यक्तित्व के राग में फँस जाते हैं। वे चाहते हैं कि किसी न किसी प्रकार उन्हें यह विश्वास दिलाया जाय कि उनकी सत्ता जीवन के उपरांत भी बनी रहेगी। यह वासना ऐसी प्रबल है कि इसके सामने कोई तर्क या युक्ति नहीं चल सकती। अतः आत्मा के संबंध में इस प्रबल वितंडावाद की सूक्ष्म परीक्षा कर के आधुनिक शरीरविज्ञान के प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा इसकी असारता दिखा देना हमारा काम है।

मृत्यु के उपरांत भी मनुष्य का व्यक्तित्व या उसकी पृथक् आत्मा का अस्तित्व बना रहता है इस मत को अमर्त्त्यवाद कह सकते हैं। इसी प्रकार उस सिद्धांत को हम मर्त्त्यवाद कहेंगे

जिसमें यह माना जाता है कि मनुष्य के मरने पर उसके और शारीरिक व्यापारों के साथ ही साथ अंतःकरण के सारे व्यापार भी नष्ट हो जाते हैं—अर्थात् आत्मा भी नहीं रह जाती।

किसी विशेष प्राणी के समस्त सजीव व्यापारों के सब दिन के लिए बंद हो जाने को मृत्यु कहते हैं। जिस समय मनुष्य का व्यक्तित्व नहीं रह जाता वह मृत कहलाता है—चाहे उसका वंश चलता रहे। वंशपरंपरा के नियमानुसार किसी किसी के गुण और लक्षण उसकी अगली पीढ़ी में बहुत दिनों तक दिखाई पड़ते हैं। पर ऐसा होना दूसरी बात है। कई अच्छे शरीरविज्ञानी यह कहने लगे हैं कि सब से क्षुद्र जीव ही अमर होते हैं और जीव नहीं। उनका यह कथन इस आधार पर है कि एकघटक अणुजीव अपनी वंशवृद्धि अमैथुनीय रीति पर विभाग या विच्छेद द्वारा करते हैं। अणुजीव का सारा शरीर दो या कई बराबर भागों में विभक्त हो जाता है और प्रत्येक भाग बढ़ कर एक स्वतंत्र जीव हो जाता है। पर यह समझ रखना चाहिए कि जिस घड़ी अणुजीव के दो भाग हो कर अलग अलग हो जाते हैं उसी क्षण उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है।

'अमर' या 'नित्य' शब्द का प्रयोग समस्त विश्व के लिए ही किया जा सकता है। जो कुछ है समष्टि रूप में उसकी सत्ता सदा रहेगी, यह परमतत्व का धर्म है। विश्व की अनश्वरता का सिद्धांत मैं आगे चल कर कहूँगा जब कि द्रव्य और शक्ति की अक्षरता का विवेचन करूँगा, यहां पर तो मैं इस प्रचलित भ्रांत मत की ही परीक्षा करूँगा कि एक एक व्यक्ति की आत्मा

अमर है। पहले मैं इस अंधविश्वास के मूल आदि का निरूपण करूँगा, फिर यह दिखलाऊँगा कि युक्ति और प्रमाण से मर्त्यवाद ही सिद्ध होता है। मर्त्यवाद दो रूपों में मिलता है--आदिम और उत्तर। आदिम रूप में यह असभ्य जंगली जातियों मे पाया जाता है जिनमें आत्मा के अमरत्व की भावना का उदय ही नहीं हुआ रहता—उसका आरंभ ही से अभाव रहता है। उत्तर रूप में यह सभ्य और ज्ञानवृद्ध लोगों के बीच पाया जाता है जिन में आत्मा के अमरत्व की भावना का प्रध्वंसाभाव रहता है—अर्थात् प्रकृति के निरीक्षण और सूक्ष्म विवेचन द्वारा उसका निराकरण हुआ रहता है। जिस प्रकार आदिम रूम में मर्त्य-वाद आदिम और असभ्य दशा के मनुष्यों के बीच पाया जाता है उसी प्रकार उत्तर रूप मे वह ज्ञान के उन्नत होने पर सभ्य मनुष्यों के बीच पाया जाता है। अमर्त्यवाद के प्रचलित हो जाने पर प्राचीन 'काल के बहुत से स्वतंत्र-विचारवाले दार्शनिकों ने उसका घोर प्रतिवाद किया। पर संसार के भिन्न भिन्न धार्मिक मतों के साथ इस अमरत्व के भाव का गहरा लगाव रहने के कारण वे अधर्मी, नास्तिक आदि नामों से पुकारे गए। उनके मत की भरपूर निंदा की गई। यह दशा प्रायः सब सभ्य देशों मे हुई।* योरप में डाक्टरो के बीच सैकड़ों वर्ष पहले से यह विचार उठ रहा था कि मनुष्य की

---

* भारतवर्ष में आत्मा का पृथक् सत्ता और उसकी अमरता को न माननेवाले दार्शनिकों में चार्वाक प्रधान हुआ है जिसके अनु-यायी लोकायतिक और नास्तिक कहलाते हैं।

मृत्यु के साथ ही आत्मा का भी अंत हो जाता है, पर उसे वे स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग मे जब शरीरविज्ञान की विशेष उन्नति हुई तब आत्मा के अमरत्व का सिद्धांत बिल्कुल निर्मूल पाया गया। पीछे विकाश द्वारा मनुष्य जाति की उत्पत्ति के स्थिर हो जाने, गर्भस्फुरण का क्रम निर्धारित हो जाने तथा सूक्ष्मदर्शक यंत्र के प्रयोग द्वारा मस्तिष्क के पुरजों की छानबीन हो जाने पर उक्त सिद्धांत के लिए कहीं कोई आधार नहीं रह गया। अब कहीं सौ मे कोई एक शरीरविज्ञानी आत्मा के अमरत्व का राग अलापता सुनाई देता है। १९ वीं शताब्दी के प्रायः सब अद्वैतवादी दार्शनिक मर्त्यवादी थे।

कुछ लोगो का ख्याल है कि आत्मा के अमरत्व का भाव सारे प्रचलित धर्मों का एक मुख्य अंग है। पर यह ख्याल ठीक नहीं। पूर्वीय देशो के समुन्नत धर्मों मे इस भाव का कहीं समावेश नहीं। न तो बौद्ध धर्म मे, जिसको एक तिहाई दुनिया मानती है, यह भाव है, न चीन के कनफूची धर्म मे।

यह रहस्यमय विचार कि मरने के पीछे भी मनुष्य की आत्मा सदा बनी रहेगी पृथ्वी के भिन्न भिन्न स्थानो में मनुष्यो के बीच आप से आप उत्पन्न हुआ। अत्यंत प्राचीन युग के असभ्य मनुष्यो मे यह विचार नही था। पीछे बुद्धि के कुछ बढ़ने पर जब जीवन और मरण, निद्रा और स्वप्न आदि को देख उनके संबंध मे विचार उठने लगे तब मनुष्य की दोहरी सत्ता की धारणा भिन्न भिन्न स्थानो पर आप से आप उत्पन्न हुई। पितरों की पूजा, कुटुंबियों का प्रेम, जीवन से आसक्ति, मरने

के पीछे अधिक सुखपूर्ण जीवन की आशा, अच्छे कर्मों से अच्छे फल और पाप से दंड की प्राप्ति इन्हीं सब बातों के प्रभाव से यह धारणा और भी प्रबल होती गई। इसी धारणा के अनुकूल बहुत सी विलक्षण विलक्षण बातें बहुत से धर्मों मे प्रचलित पाई जाती है। अधिकांश धार्मिक अपने ईश्वर ही से मिलती जुलती वस्तु अपनी अमर आत्मा को भी मानते हैं। ईसाइयों ही को लीजिए, जो समझते हैं कि जैसे ईसा कब्र से उठ बैठे थे वैसे ही वे भी कयामत के दिन अपनी अपनी कब्रो से उठेंगे और अपने किए कर्मों का फल पावेंगे। यह विचार भी वैसा ही है जैसा कि असभ्य जंगलियो का होता है।

यह तो हुआ धार्म्मिको का विचार जिसमें भौतिक और अभौतिक का भेद उतना नहीं है, जिसके अनुसार स्वर्ग में भी जा कर मनुष्य वही सुख भोगेगा जो भूतात्मक शरीर से भोगता है। शरीर और आत्मा को पृथक् माननेवाले दार्शनिक अपना सिद्धांत कुछ अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट करते हैं। वे शरीर को नश्वर और भौतिक मानते हैं और आत्मा को अमर अभौतिक और चिन्मय। थोड़े काल के लिए दोनों का संयोग हो जाता है। योरप के देशों में इस सिद्धांत का प्रचार पहले पहल प्लेटो (अफ़लातून) नामक यूनान देश के दार्शनिक ने किया। उसने शरीर के साथ संयोग होने के पहले और वियोग होने के उपरांत प्रत्येक आत्मा को शुद्ध रूप में मान कर 'आवागमन' के सिद्धांत का समर्थन किया। उसने बतलाया कि एक शरीर छोड़ कर आत्मा अपने अनुकूल दूसरे

शरीर में जाती है। पुण्यात्माओं की आत्मा अच्छी योनि में जाती है और पापियों की बुरी योनि में। शरीरविज्ञान, अंग-विच्छेदशास्त्र, गर्भविज्ञान आदि की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो यह बात बच्चों की सी जान पड़ती है।

कुछ दार्शनिक आत्मा को एक पृथक् तत्त्व मानते हुए भी उसका ठीक ठीक लक्षण नहीं बतला सकते। कभी तो वे उसकी सत्ता भावरूप मे मानते हैं और कभी वस्तुरूप में। वैज्ञानिक अद्वैत दृष्टि से यदि हम परमतत्व का निरूपण करते हैं तो उसमें द्रव्य और शक्ति (गति) को ओतप्रोत भाव में लेते हैं क्योंकि दोनों का नित्य संबंध है। अतः आत्मतत्व के अंतर्गत भी ये हैं—आत्मशक्ति (इंद्रियसंवेदन, अंतःसंस्कार, प्रवृत्ति आदि गत्यात्मक व्यापार) और आत्मद्रव्य अर्थात् सजीव कललरस जो कि शक्ति या मनोव्यापारों का आधार है। मनुष्य आदि उन्नत प्राणियो मे यह आत्मद्रव्य संवेदनसूत्रो का अंग है और संवेदनसूत्रविहीन क्षुद्र जीवो मे उनके कललरसमय शरीर का। आत्मा के व्यापार के लिए बाह्यकरण (ज्ञानेंद्रियाँ) और अंतःकरण आवश्यक है—बिना इन भूतात्मक अवयवो के किसी प्रकार का आत्मव्यापार नहीं हो सकता। पर आत्मा की एक निर्दिष्ट सत्ता है—वह शरीर की अंतःक्रियाओ की निर्दिष्ट समष्टि है।

आत्मा और शरीर को परस्पर निरपेक्ष माननेवाले द्वैत दृष्टि के दार्शनिको का भाव आत्मतत्त्व के संबंध मे ऐसा नही है। वे अमर आत्मा को द्रव्य मानते हुए भी उसे अगोचर और गोचर शरीर से भिन्न मानते हैं। अतः अगोचरता

आत्मा की एक विशेषता मान ली गई है। कुछ लोग तो आत्मा को ईथर वा आकाशद्रव्यवत् एक अत्यंत सूक्ष्म, अगोचर पदार्थ मानते हैं। यही धारणा प्राचीनों की भी थी। वे समझते थे कि मरने पर शरीर तो जड़ द्रव्य के रूप में रह जाता है और आत्मा निकल कर उड़ जाती है।

ईथर से आत्मा की तुलना इधर थोड़े ही दिनो से होने लगी है—जब से विद्युत् और प्रकाश की गति आदि के संबंध मे परीक्षा द्वारा बहुत सी बातें प्रकट हुई हैं। पर ईथर का विचार मैं आगे चलकर करूँगा जिससे प्रकट हो जायगा कि आत्मा को ईथरवत् बतलानेवाला चिदाकाशवाद भी ठीक नहीं है। जिस प्रकार ईथर वा आकाशद्रव्य समस्त विश्व से स्थूल पिंडो और परमाणुओं के बीच व्याप्त है उसी प्रकार कललरस या मस्तिष्क के अणुओं के बीच आकाशरूप आत्मा को व्याप्त मानने पर भी मनोव्यापारों के हेतु का निरूपण नहीं होता।

आत्मा को वायुरूप समझनेवालों की संख्या बहुत अधिक है। यह समझ बहुत पुरानी है। प्राणशब्द वायुवाचक है जिसके कारण जीव प्राणी कहलाते हैं। श्वासरूपिणी जीवन-शक्ति का नाम प्राण रक्खा गया था। पर साधारण जनों के बीच वह जीवात्मा ही के रूप में माना जाता है। वे किसी के मरने पर कहते हैं कि उसका प्राण निकल गया। मृत पुरुषों की आत्माओं या प्रेतो को वे वायुरूप ही मानते हैं। वायुरूप मानते हुए भी वे उनमें शरीरावयवयुक्त जीवो के से व्यापार मानते हैं। किसी किसी आध्यात्मिक मंडली ने तो उनके फोटो तक तैयार किए हैं!

परीक्षात्मक भौतिक विज्ञान ने समस्त गैसों या वायव्य पदार्थों को द्रवरूप में और बहुतों को स्थूल रूप तक मे परिणत करके दिखा दिया है। इस प्रकार वायु जो अपनी सूक्ष्मता के कारण अग्राह्य वा अदृश्य मानी जाती थी वह दृश्य और ग्राह्य कर के दिखा दी गई। अब यदि आत्मा वायुरूप पदार्थ होती तो उसे भी द्रव रूप में ला सकते। किसी मनुष्य के मरने के समय उसमें से निकलनेवाली वायुरूपी आत्मा को पकड़ कर हम उसे द्रवरूप में एक शीशी के भीतर बंद करके दिखाते कि यह लो "अमृतरस" तैयार है। यहीं तक नहीं, उस रस पर और भी अधिक ठंडक और दबाव डाल कर हम एक बरफ की टिकिया बनाते और उसे "आत्मा की बरफ़" कहते। पर आज तक किसी ने ऐसा कर के दिखाया नहीं।

आत्मा की अमरता के जितने प्रमाण दिए जाते हैं उनमे सत्य के अनुसंधान का कोई प्रयत्न नहीं पाया जाता केवल एक प्रकार का राग या मनःप्रवृत्ति पाई जाती है। जैसा कि कांट ने कहा है आत्मा का अमरत्व शुद्ध बुद्धि का निरूपण नहीं है, व्यवसायात्मिका बुद्धि की धारणा है। पर सत्य के अन्वेषण में हमें शुद्ध बुद्धि को छोड़ और किसी बुद्धि से काम न लेना चाहिए। सत्य का निरूपण जब होगा तब शुद्ध बुद्धि के द्वारा, किसी प्रकार की अभिरुचि वा वासना के द्वारा नहीं। सत्य कैसा ही अप्रिय हो उसे ग्रहण करना पड़ेगा।

आत्मा के अमरत्व के जितने प्रमाण दिए जाते हैं उनमें से एक भी वैज्ञानिक कोटि का नहीं, एक भी ऐसा नहीं जो

शरीरविज्ञानानुसारी मनोविज्ञान और जंतुओ की उत्पत्तिपर परा-संबंधी सिद्धांत के आधार पर हो। मतवादियों और धर्म-वादियों की यह बात कि ईश्वर आत्माओ को कुछ काल तक के लिए पहले से तैयार शरीरों मे भेजा करता है अथवा सृष्टि के आदि मे उसने मनुष्यरूपी पुतले के शरीर मे अपनी रूह फूँक दी थी कपोल-कल्पना मात्र है। कुछ लोगो का यह कथन कि यदि आत्मा नित्य न होती तो संसार में धर्म की व्यवस्था न रहती सर्वथा निर्मूल है। यह विचार कि मनुष्य की आत्मा अपनी 'परमगति' को इस पार्थिव जीवन मे नहीं प्राप्त कर सकती, उसकी पूर्णता के लिए उत्क्रमण आवश्यक है, मनुष्य के महत्व की झूठी भावना पर अवलंबित है। यह समझना कि सांसारिक जीवन मे जो अनेक प्रकार के अन्याय होते है, अनेक प्रकार की इच्छाएं अपूर्ण रह जाती हैं उन सब का प्रति-कार या पूर्ति परलोक या परजन्म मे होगी दुराशा मात्र है। यह बात भी प्रमाणविरुद्ध है कि मनुष्य मात्र में आत्मा के अमरत्व या ईश्वर के अस्तित्व की भावना स्वाभाविक है। बहुत सी ऐसी जातिया हैं जिनमे इस प्रकार की कोई भावना नहीं। आत्मा के अमरत्व की सिद्धि के लिए उपस्थित की जानेवाली ये सब युक्तियाँ वैज्ञानिक अनुसंधानो से निःसार प्रमाणित हो चुकी हैं।

इन निःसार युक्तियो के विरुद्ध जो वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं वे ये हैं। शरीरविज्ञान से इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि आत्मा शरीर से स्वतंत्र कोई अभौतिक सत्ता नहीं है। मस्तिष्क के व्यापारों की समष्टि का नाम ही आत्मा

है और ये व्यापार भी शरीर के और व्यापारों के समान भौतिक और रासायनिक नियमों के अधीन हैं। मस्तिष्क के सूक्ष्म अन्वीक्षण द्वारा आत्मव्यापार-साधक अवयवों का पता लगता है। परीक्षा द्वारा यह देखा गया है कि आत्मा के भिन्न भिन्न व्यापार मस्तिष्क के भिन्न भिन्न भागों पर अवलंबित है। यदि वे भाग नष्ट हो जाते हैं तो उनके द्वारा होनेवाले व्यापार भी बंद हो जाते हैं। इस बात का प्रमाण प्रकृति हमें बराबर देती रहती है। भ्रूणवृद्धि और शिशुवृद्धि आदि के क्रम को देखने से हमें पता चलता है कि किस प्रकार मनुष्य की आत्मा भी क्रमशः बढ़ती जाती है और प्रौढ़ावस्था मे परिपक्व हो जाती है। इतना ही नहीं, जरा-वस्था मे वह शिथिल और क्षीण भी होती है। जीवों की वर्गोत्पत्ति-परंपरा की ओर ध्यान देने से पता लगता है कि मनुष्य का मस्तिष्क (और उसका व्यापार आत्मा) और दूसरे स्तन्य जीवों के मस्तिष्क से उन्नत होते होते बना है। इसी प्रकार स्तन्य जीवों का मस्तिष्क दूसरे क्षुद्र कोटि के रीढ़वाले जंतुओं के मस्तिष्क से उन्नत उन्नत होते होते बना है। आत्मा की यह घटती बढ़ती उत्पत्तिधर्म और अनित्यता का प्रमाण है, अमरत्व का नहीं।

आधुनिक विज्ञान के अन्वेषणों से आत्मा के अमरत्व का सर्वथा खंडन हो गया है। कुछ दिनों पीछे इसकी चर्चा वैज्ञानिक क्षेत्र से बिल्कुल उठ जायगी, केवल आँख मूँद कर विश्वास करनेवालों मे रह जायगी। " आत्मा के अमरत्व का विश्वास एक अंधविश्वास मात्र रह जायगा। पर अभी सभ्य

से सभ्य देश के करोड़ों मनुष्य इस अंधविश्वास को अपनी 'परम निधि' समझते हैं। इसे वे कदापि छोड़ना नही चाहते। पर मैं इस बात को दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि आत्मा के अमरत्व की भावना मोह के अतिरिक्त और कुछ नही। इसे त्यागने से मनुष्य जाति की हानि कुछ नहीं, और लाभ बहुत है।

आत्मा को अमर मानने की प्रबल वासना का कारण क्या है? क्यों लोगों की यह इच्छा रहती है कि आत्मा अमर सिद्ध हो? इसके मुख्य कारण दो हैं—एक तो यह आशा कि परलोक मे अधिक सुख मिलेगा, दूसरी यह आशा कि मृत्यु के कारण जिन प्रिय जनो का वियोग हुआ है वे फिर देखने को मिलेंगे। इस संसार मे वहुत सी भलाइयाँ हम दूसरों के साथ करते है जिनके वदले की कोई आशा यहाँ नहीं होती। अतः हम एक ऐसे अनंत जीवन की वाञ्छा करते हैं जिसमे सब वदले पूरे हो जायँ और सदा सुख और शान्ति वनी रहे। भिन्न भिन्न जातियो में स्वर्ग की भावना उनकी सुख की भावना के अनुसार है। मुसलमानो के बिहिश्त में सुन्दर छायादार वगीचे हैं, मीठे पानी के चश्मे जारी हैं, हूर और गिलमा सेवा के लिए हैं। ईसाइयो का स्वर्ग भी सुखसंगीतपूर्ण है, अमेरिका के आदिम निवासियो के स्वर्ग में शिकार खेलने के लिए वड़े वड़े मैदान हैं जिनमे असंख्य भैंसे और भालू फिरा करते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि लोग स्वर्ग में उन्हीं सब सुखो को भोगने की कामना करते हैं जिन्हें वे यहाँ अपनी इन्द्रियों के द्वारा भोगते हैं। वे

कानो से स्वर्गीय संगीत सुनेंगे, आँखों से अप्सराओं का नृत्य देखेंगे, रसना से अमृत का स्वाद लेंगे। इन सब सुखों को वे अनंत काल तक भोगेंगे। आत्मा को अभौतिक आदि मानते हुए भी वे उसे परलोक में भौतिक सुखों का भोक्ता माने बिना नही रह सकते।

अमर्त्यवाद मानने की इच्छा सब से बढ़ कर इसलिए होती है कि उससे उन प्रियजनो से फिर मिलने की आशा बँधती है जिनसे इस जीवन मे वियोग हो जाता है। पर यदि ऐसा होना मान भी लें तो भी हमारी स्थिति कुछ विशेष सुखदायक नहीं हो सकती क्योकि जिस प्रकार प्रिय जन मिल सकते है उसी प्रकार वे शत्रु भी तो मिल सकते हैं जिन्होने यहाँ नाक में दम कर रक्खा था। ऐसे करोड़ो आदमी मिलेगे जो स्वर्ग का सारा सुख छोड़ने के लिए तैयार हो जायेगे यदि वे समझें कि ऐसा करने से स्त्री या नानी से भेट हो जायगी।

अमरवादियों से एक बात और पूछने की है। वह यह कि स्वर्ग का सुख भोगनेवाली आत्मा किस अवस्था की होगी, शैशवावस्था की, तरुणावस्था की या जरावस्था की *।

---

* जो लोग आत्मा को अजर आदि मानते हैं वे यह प्रश्न सुनकर चौंकेंगे। पर हैकल ने पहले ही कह दिया है कि आत्मा भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है, अर्थात् वह भी जवान और बुड्ढी होती है। हिन्दुओं की स्वर्गसंबंधिनी भावना कुछ समाधानकारक है। वे स्वर्गवासी अमरों को अजर मानते हैं।

यदि किसी बालक की आत्मा शरीर से मुक्त होकर स्वर्ग को गई तो क्या उसे उसी प्रकार धीरे धीरे परिपक्व होना पड़ेगा जिस प्रकार यहाँ अपने अनुभव की उत्तरोत्तर वृद्धि और गुरुजनों की शिक्षा द्वारा वह परिपक्व होती है ? क्या बुड्ढे की आत्मा वहाँ जाकर निरंतर क्षीयमाण ही रहेगी ?

ईसाइयों मूसाइयों आदि का क़यामत का ख्याल तो सब से गया बीता है। वे समझते हैं कि मनुष्यो की आत्माएँ शरीर से निकल निकल कर बराबर जमा होती जायँगी और सृष्टि के अंतिम दिन मे दो दलों मे बाँटी जायँगी। एक दल तो स्वर्ग में अनंतकाल का सुख भोगने के लिए जायगा, दूसरा नरक मे चिरकाल तक के लिए यंत्रणा भोगने के लिए जायगा। यह सब करेगा कौन ? दयामय आसमानी बाप। वही क्षणिक जीवन के बीच किए हुए पुण्य के लिए अनंत सुख, और पाप के लिए अनंत दु.ख देगा ?

आध्यात्मिक दर्शन धर्म्माचार्य्यों की इन स्थूल पौराणिक कल्पनाओं को न मान कर आत्मा की सत्ता सब भूतों से परे मानता है। पर आजकल के परीक्षात्मक तत्त्ववाद मे इस प्रकार की ऊटपटांग भावना के लिए कोई जगह नहीं। सारांश यह कि आत्मा के अमरत्व का प्रवाद आधुनिक विज्ञान के परीक्षात्मक निश्चयो के सर्वथा विरुद्ध है।

दूसरा प्रकरण

मूलप्रकृति या परमतत्व की व्यवस्था।

प्रकृति का सर्वव्यापक गुण, समस्त विश्व का एक अखंड धर्म परमतत्व का धर्म, है। इस गुण का पता लगाना ज्ञानक्षेत्र मे सब से बड़ी विजय है क्योंकि प्रकृति के और नियम इसके वशवर्त्ती है। इस मूलप्रकृति या परमतत्व के धर्म के अंतर्गत दो अखंड नियम हैं—एक तो द्रव्य की अक्षरता का और दूसरा शक्ति की अक्षरता का। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ये दोनों नियम परस्पर अभिन्न हैं—ये एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। पर कुछ लोग ऐसे भी है जो इस अभिन्नता को नहीं मानना चाहते। पर शुद्ध तत्त्वदृष्टि रखनेवाले दार्शनिको के निकट यह प्रत्यक्ष है। अब संक्षेप मे इन दोनों नियमों का उल्लेख किया जाता है।

द्रव्य की अक्षरता या अनश्वरता का नियम, जिसका अनुसंधान और जिसकी व्याख्या लवायशियर नामक एक फरासीसी वैज्ञानिक ने पहले पहल (सन् १७८९ में) की, इस प्रकार है। द्रव्य जो अनंत दिक् में व्याप्त है उसका योग सदा समान रहता है, उसमे किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं हो सकती, द्रव्य का कोई पिंड जो हमारे देखने मे लुप्त हो जाता है, वह वास्तव मे नष्ट नहीं होता, केवल अपना रूप बदल देता है। जब कपूर जल जाता है तब उसके अणुओ का नाश

नहीं होता, उसके अणु धुएँ, काजल या अन्य किसी रूप में बने रहते हैं। जब मिस्री की डली पानी में घुल जाती है तब वह स्थूल से तरल रूप में हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ कोई नया पदार्थ उत्पन्न होता दिखाई देता है वहाँ भी रूपपरिवर्त्तन मात्र ही समझना चाहिए। मेह की झड़ी वायु में मिली भाप है जो बूँदों के रूप में होकर गिरती है। लोहे के ऊपर जो मुरचा लग जाता है वह उसी धातु की एक तह है जो पानी और (हवा में मिली) आक्सिजन के साथ मिल कर मुरचे के रूप में हो जाती है। प्रकृति के बीच कभी किसी नए अर्थात् अतिरिक्त द्रव्य की उत्पत्ति या सृष्टि नहीं होती और न द्रव्य के किसी एक कण का भी नाश या प्रध्वंसाभाव होता है। यह बात निर्विवाद है और इसी पर आधुनिक रसायनशास्त्र की स्थिति है। इसका निश्चय हम जब चाहें तब वैज्ञानिकों के मानयंत्र (तराजू) द्वारा कर सकते हैं। "द्रव्य की नित्यता" का निश्चय अब वैज्ञानिक मात्र को है।

शक्ति की अक्षरता वा नित्यता का सिद्धांत इस प्रकार है। शक्ति (गति शक्ति) जो अनंत दिक् में कार्य्य करती है और समस्त व्यापार जिसके परिणाम हैं उसका योग सदा समान रहता है। उसमें किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं होती। गतिशक्ति का न कभी क्षय होता हैं और न कोई अतिरिक्त नई शक्ति विश्व मे उत्पन्न होती है। एंजिन जब तक खड़ा रहता है तब तक भाप की गतिशक्ति निहित या संचित रहती है। जब वह दौड़ता है तब भाप की वही निहित शक्ति व्यक्त वा क्रियमाण शक्ति के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है।

व्यक्त वा क्रियमाण शक्ति कई रूपों में दिखाई पड़ती है। ताप, पिंडगति, शब्द, प्रकाश, विद्युत् आदि व्यक्त शक्ति के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। भौतिक विज्ञान ने एक रूप की शक्ति को दूसरे रूप की शक्ति में परिणत कर के दिखा दिया है। ताप पिंडों की गति के रूप में परिवर्त्तित किया जा सकता है, पिंडो की गति शब्द या प्रकाश के रूप मे, प्रकाश विद्युत् के रूप मे। एक रूप स दूसरे रूप मे परिवर्चित होने पर वेग की मात्रा उतनी ही बनी रहती है, उसमें अतर नही पड़ता। जीती जागती गतिशक्ति का कोई अंश न कभी क्षय को प्राप्त होता है और न किसी नवीन अंश की विश्व में उत्पत्ति होती है। यह सिद्धांत सन् १८४२ मे पूर्ण-रूप से निर्धारित हो गया। शरीरविज्ञान मे भी यह सिद्धांत पूर्ण रूप से घटता है। पर शरीर के भीतर एक अतीत शक्ति माननेवाले शरीरविज्ञानी तथा द्वैतभावापन्न दार्शनिक अभी तक उसका विरोध करते जाते हैं। उनके मत मे शरीर के भीतर चेतन व्यापार सपादन करनेवाली जो आध्यात्मिक शक्ति है वह सर्वथा स्वतंत्र है—वह भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन नही है। वे आत्मा के इच्छा द्वेष आदि व्यापारो को सर्वथा स्वतंत्र मानते हैं। पर अद्वैततत्वदृष्टि-संपन्न वैज्ञानिक इनको भी गतिशक्ति का ही एक उन्नत रूप मानते हैं।

द्रव्य की अक्षरता का सिद्धांत और गतिशक्ति की अक्षरता का सिद्धांत दोनो वस्तुतः एक ही हैं यह बात आधुनिक अद्वैतवाद मे बड़े काम की है। इन दोनों सिद्धांतों में उसी प्रकार नित्य संबंध है जिस प्रकार द्रव्य और शक्ति मे।

ये वस्तुतः अन्योन्याश्रित क्या अभिन्न हैं। अद्वैतदृष्टि के बहुत से दार्शनिकों को तो इनकी अभिन्नता वा एकता सर्वथा प्रत्यक्ष है क्योंकि ये एक ही पदार्थ विश्व के दो रूपों से संबंध रखते हैं। पर प्रत्यक्ष होने पर भी यह बात सब को स्वीकृत नहीं है। शक्ति और द्रव्य, आत्मा और शरीर को पृथक् माननेवाले द्वैतवादी दार्शनिक, अतीत शक्ति माननेवाले शरीरविज्ञानी, शरीर और आत्मा के व्यापारो को दो सहगामी व्यापार माननेवाले मनोविज्ञानी इसका घोर विरोध करते हैं यहाँ तक कि व्याहत दृष्टि के कुछ अद्वैतवादी दार्शनिक भी यह कहते हैं कि द्रव्य और शक्ति की एकता मानने पर भी 'चेतना' एक ऐसी वस्तु रह जाती है जो इस एकता के अंतर्गत नहीं आती-- जो द्रव्य और भौतिक शक्ति के नियमों से परे प्रतीत होती है। पर मुझे तो पूरा निश्चय हैं कि 'चेतना' भी द्रव्य और भौतिक शक्ति के नियमाधीन है, उससे परे नहीं। द्रव्य का नियम और गतिशक्ति का नियम दोनों अभिन्न हैं। व्यवहार के लिए उनकी अलग अलग भावना मात्र मनुष्य को होती है। दोनों नियमों के समाहार को हम "परमतत्त्व का धर्म" कहते हैं जिसका वशवर्त्ती अखिल ब्रह्मांड है। कार्य्यकारण-व्यवस्था इसीके अंतर्गत है।

योरप में स्पिनोज़ा (१६७७) पहला दार्शनिक है जिसके विचार मे 'परमतत्त्व' की शुद्ध भावना आई। उसीने पहले पहल ईश्वर और जगत् की एकता का प्रतिपादन किया *।

---

* भारतवर्ष में ईश्वर और जगत् की एकता का सिद्धांत अत्यंत

इस प्रकार योरप में शुद्ध अद्वैतवाद की नींव पड़ी । स्पिनोजा ने बतलाया कि यह 'परमतत्त्व' अपनी सत्ता को दो रूपो मे व्यक्त करता है--द्रव्य के रूप में (अर्थात् अनंत दिक् मे व्याप्त पदार्थ वा तत्त्व के रूप मे) और आत्मा के रूप मे (सर्व-व्यापिनी गतिस्वरूपा चित् शक्ति के रूप में) * । संसार के सब पदार्थ, सब जीव, जिनकी हमे अलग अलग भावना होती है इसी परमतत्त्व के विशेष विशेष क्षणभंगुर नाम रूप है +। इन नामरूपो का जब हम विस्तार के गुणानुसार विचार करते है तब वे (द्रव्यात्मक) वस्तु कहलाते हैं, और जब चित् शक्ति (वा क्रियाशक्ति) के रूप मे विचार करते हैं तब गति वा बुद्धिक्रिया कहलाते हैं । स्पिनोजा के इस गूढ़ विचार का समर्थन हम आज भी करते हैं और द्रव्य (दिक् मे व्याप्त परमतत्त्व) और शक्ति (गति या वेग) को एक ही सर्व-व्यापक परमतत्त्व की दो अभिव्यक्तियाँ मानते हैं ।

प्राचीन काल मे निश्चित हुआ था । उपनिषद् की 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना बहुत पुरानी है । वेदांती लोग भी ईश्वर को जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादान' बतला कर ईश्वर और जगत् की एकता का आभास देते हैं ।

* द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च, मर्त्यञ्चामृतञ्च, स्थितंच यच्च, सच्च, त्यच्च । (बृहदारण्यक-मूर्तामूर्त ब्राह्मण)

\+ इन नामरूपों की क्षणभंगुरता का विषय हमारे यहाँ आकाश के दृष्टांत द्वारा समझाया गया है । जैसे घट के भीतर का आकाश विशेष रूप का दिखाई पड़ता है, पर घड़े के फूटने पर वह घटाकाश नहीं रह जाता अर्थात् आकाश का वह स्वरूप नहीं रह जाता ।

आधुनिक विज्ञान मे परमतत्त्व के संबंध मे जो भिन्न भिन्न सिद्धांत प्रचलित हैं उनमे मुख्य दो हैं–अणुदोलन सिद्धांत और आकुंचन सिद्धांत। दोनो सिद्धांतों के अनुसार यह निश्चय पक्का ठहरता है कि आकर्षण, विद्युत्, प्रकाश और ताप इत्यादि सब एक ही मूल गतिशक्ति के रूपातर है। पहले अणुदोलनवाले सिद्धांत को लेते हैं। इसके अनुसार मूल-गतिशक्ति द्रव्य के परमाणुओ का क्षोभ है। ये परमाणु जड़ हैं और दूर से एक दूसरे पर आकर्षण प्रभाव डाल कर शून्य में नाचते रहते हैं। इस सिद्धांत का प्रवर्त्तक न्यूटन है जिसने योरप में आकर्षण सिद्धात की स्थापना की। अपने सिद्धांत-ग्रंथ (सन् १६८७) मे उसने दिखाया कि समस्त विश्व आकर्षण के नियम पर चलता है। यह आकर्षण पदार्थों के गुरुत्व और उनकी बीच की दूरी के हिसाब से होता है। पिड जितने ही भारी होगे उतने ही अधिक वेग से आकर्षण होगा और एक दूसरे से जितने ही अधिक दूर होगे उतना ही आकर्षण का वेग कम होगा। इसी व्यापक नियम के अनुसार फल पेड़ पर से टूट कर पृथ्वी पर गिरता है, समुद्र की लहरे ऊपरे की ओर उठती हैं, ग्रह सूर्य्य के चारो ओर घूमते है। न्यूटन ही ने इस नियम के परिचालन का ठीक ठीक हिसाब गणित-करके दिखाया। न्यूटन के निरूपण से इस बात का तो पता लगा कि आकर्षण किस हिसाब से होता है पर इसका पता कुछ भी न लगा कि वह होता किस प्रकार है। यह कहने से कि एक ग्रहपिंड दूर से बिना किसी मध्यवर्त्ती वाहक के दूसरें पिंडो में गति उत्पन्न

करता है आकर्षण का विधान कुछ भी समझ मे नहीं आता। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि दूर से बिना किसी आधार के होनेवाली यह क्रिया न्यूटन को एक गूढ़ रहस्य या ईश्वरी माया प्रतीत हुई हो जिसके कारण उसने अपना शेष जीवन बाइबिल की वे सिरपैर की बातों की उधेड़बुन में बिताया।

इस अणुदोलन सिद्धांत के विरुद्ध हाल का आकुंचन सिद्धांत है। इसके अनुसार जगत् की मूल गति शून्य स्थान मे अणुओ का दोलन वा कंपन, नहीं है बल्कि अनंत दिक् मे अखंड रूप से व्याप्त मूलद्रव्य या परमतत्व का आकुंचन या जमाव है। इस परमतत्व की मूल गति आकुंचित होने या जमने की प्रवृत्ति है जिसके कारण जमाव के अनंत केंद्र उत्पन्न हो जाते हैं। अखिल मूल प्रकृति या परमतत्व के सूक्ष्म कण परमाणु रूप ही हैं। पर अणुदोलन सिद्धांत-वाले इन परमाणुओं को जैसा मानते हैं वैसे वे नही होते। उनमें एक प्रकार की संवेदना वा प्रवृत्ति (जिसे मूल वासना वा मनोगति कह सकते हैं) होती है। अतः इन अणुओ को एक प्रकार की मूल आत्मा * से युक्त मानना चाहिए। एक बात और है। आत्माओं से युक्त ये परमाणु शून्य मे नहीं फिरते हैं बल्कि एक अत्यंत सूक्ष्म और प्रवाह-रूप मध्यवर्त्ती द्रव्य मे घूमते है जो जमा नहीं रहता।

---

* आत्मा से अभिप्राय यहाँ चैतन्य का नहीं है, केवल जड़-प्रवृत्ति का है। चेतना को हैकल गुणविकाश मानते हैं।

मूलद्रव्य के जमने में जो क्षोभ होता है उससे क्षोभ के बहुत से केन्द्र बनते हैं जिनके चारो ओर असंख्य ' परमाणु एकत्र हो-कर परस्पर मिलते हैं और आसपास के द्रव्य से अधिक स्थूलता प्राप्त करते हैं। इस रीति से मूलप्रकृति या परमतत्व जो अपनी मूल साम्यावस्था में सर्वत्र एकरस रहता है दो रूपों में हो जाता है। क्षोभ के केन्द्र जिनका घनत्व साम्या-वस्था के मूलद्रव्य के सामान्य घनत्व से अधिक हो जाता है पिंडों के स्थूल उपादान होते हैं; और उनके बीच के स्थानों में व्याप्त सूक्ष्म मध्यवर्त्ती मूलद्रव्य जिसका घनत्व साम्यावस्था के मूलद्रव्य के सामान्य घनत्व से कम हो जाता है वह ईथर या सूक्ष्म अगोचर आकाशद्रव्य हो जाता है। एक मूलतत्व के पिंड और ईथर इन दो पदार्थों मे विभक्त हो जाने से दानो पदार्थों में निरंतर विरोध चलता रहता है। यही विरोध समस्त भौतिक व्यापारों का कारण है। इच्छा वा प्रवृत्तियुक्त स्थूल द्रव्य निरंतर संयुक्त और घनीभूत होने का प्रयत्न करता रहता है और इसी व्यापार द्वारा विपुल मात्रा मे निहित गतिशक्ति का संचय करता है। उसके विरुद्ध सूक्ष्म अग्राह्य द्रव्य निरंतर इस बात का प्रयत्न करता रहता है कि उस पर और अधिक खिंचाव न पड़े और इस प्रकार अधिक से अधिक व्यक्त वा क्रियमाण गतिशक्ति का संचय करता है।

यह आकुंचन सिद्धांत मूल प्रकृति की एकता का निश्चय रखनेवाले जीवविज्ञानियों को अणुदोलन सिद्धांत की अपेक्षा अधिक मान्य है। पर अणुदोलन सिद्धांतवाले वैज्ञानिक आकुं-चन सिद्धांत स्वीकार नहीं करते। दोनों अनुमानमूलक सिद्धांतों

में जो विरोध है वह केवल गति के प्रकार मे है, मूल प्रकृति वा परमतत्व की गति दोनों मानते हैं। आकुंचन सिद्धांत चाहे अभी अपूर्ण हो, उसमें बहुत सी त्रुटियाँ हो, पर यह मानना ही पड़ेगा कि अणुदोलन सिद्धांत में जो दोष थे वे इसके द्वारा बहुत कुछ स्पष्ट हो गए हैं। आज इसी सिद्धांत का अनुसरण-करके मै अद्वैतदृष्टि से परमतत्त्व के संबंध मे ये बातें निश्चित करता हूँ—

(१) परमतत्त्व के ये दोनों रूप अर्थात् स्थूल द्रव्य और ईथर जड़ नहीं है। वे किसी बाहरी शक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होते बल्कि उनमे स्वयं संवेदन और इच्छा (अत्यंत निम्न-श्रेणी की) होती है। एक में जमाव की इच्छा और दूसरे में खिचाव की अनिच्छा होती है।

(२) विश्व में कहीं कोई स्थान शून्य नहीं। जो स्थान स्थूल परमाणुओं से पूर्ण नहीं वह ईथर से व्याप्त है।

(३) एक पिंड दूसरे में जो गति आदि उत्पन्न करता है वह या तो संसर्ग द्वारा अथवा ईथर की मध्यस्थता द्वारा।

परमतत्त्व के संबंध मे ऊपर जिन दोनों सिद्धांतों का उल्लेख हुआ है वे दोनों अद्वैत सत्ता सूचित करते है; क्योंकि परम-तत्त्व के जो दो अवस्थाभेद हैं—द्रव्य और ईथर—वे उसके मूल रूप नहीं हैं। पर अध्यात्मपक्ष के दार्शनिकों का द्वैतमत कुछ और ही है। वे दो प्रकार के तत्व मानते हैं—भौतिक और अभौतिक। भौतिक तत्व उन पदार्थों का उपादान है जो भौतिक-विज्ञान और रसायनशास्त्र के नियमाधीन हैं। अभौतिक तत्व आध्यात्मिक जगत् मे है जो समस्त भूतो से परे है, अतः

भौतिकविज्ञान के नियमों के बाहर है। इस अध्यात्म जगत् में 'आत्मशक्ति', 'अबाध इच्छाशक्ति' या इसी प्रकार का कोई हौवा काम करता है। इन विचारों के खंडन मे प्रवृत्त होने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि आज तक अनुभव द्वारा न तो किसी अभौतिक तत्व का पता लगा है और न किसी ऐसी क्रिया या शक्ति का जो द्रव्याश्रित न हो। यहाँ तक कि गति-शक्ति (क्रियाशक्ति) के सब से जटिल और विशद भेद जो जीवधारियों के बुद्धि आदि व्यापार हैं वे भी भूतात्मक द्रव्य-विधान के आश्रित हैं—मस्तिष्क के अवयवों की परिस्थिति और रसविकार पर अवलंबित हैं। इन अवयवो और रस-विकारों से पृथक् उनकी भावना हो ही नहीं सकती।

स्थूल द्रव्य का विश्लेषण आदि रसायन शास्त्र का विषय है। रसायन शास्त्र ने इधर जो आश्चर्यजनक उन्नति की है वह किसीसे छिपी नहीं है। प्रकृति में जितने पदार्थ हैं विश्लेपण करने पर वे कुछ मूलद्रव्यों के योग से बने पाए गए हैं। मूलद्रव्य का अभिप्राय यह है कि यदि उसका और विश्लेपण किया जाय तो उसमें और किसी भिन्न द्रव्य का योग नहीं पाया जायगा। अब तक सत्तर या पचहत्तर मूलद्रव्यों में से केवल चौदह ऐसे हैं जो इस पृथ्वी पर बहुत अधिक व्याप्त हैं। बाकी जो हैं उनमें से अधिकांश धातुएँ हैं (जैसे लोहा, सोना, सीसा इत्यादि)। मेंडालायफ़ (Mendelejeff) नामक एक रूसी रसायन-वेत्ता ने इन मूलद्रव्यों को परमाणुओं के गुरुत्व के अनुसार वर्गों में बाँटा है। इस वर्गीकरण में समान गुणवाले मूलद्रव्य

एक वर्ग में आ जाते हैं। इन वर्गों में जो परस्पर संबंध ह उसे देखने से प्राणिवर्गों और वनस्पतिवर्गों के परस्पर संबंध की ओर ध्यान जाता है। अतः जिस प्रकार एक मूलरूप से संपूर्ण प्राणिवर्गों की उत्पत्ति हुई है उसी प्रकार मूलद्रव्य के इन वर्गों की भी उत्पत्ति समझी जा सकती है। क्रुक्स आदि रसायनज्ञों ने सूचित किया है कि समस्त मूलद्रव्यों का विकाश एक आदिम मूलद्रव्य से हुआ है।

दार्शनिकों का अणुवाद तो बहुत पुराना है। पर रसायन शास्त्र मे परमाणुवाद की स्थापना डाल्टन नामक एक वैज्ञानिक ने की। उसीने पहले पहल प्रत्येक मूलद्रव्य के परमाणुओं का गुरुत्व निश्चित किया * जिसके आधार पर आधुनिक रसायन शास्त्र के सिद्धात स्थिर किये गए हैं। ये सिद्धांत परमाणु मूलक हैं क्योंकि इनमे प्रत्येक मूलद्रव्य एक ही प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणिकाओं के योग से बना माना गया है। ये परमाणुमूलक सिद्धांत परीक्षात्मक वा अनुभवसिद्ध हैं क्योंकि ये ठीक ठीक बतलाते हैं कि किस हिसाब से एक मूलद्रव्य के परमाणु दूसरे मूलद्रव्य के परमाणुओं के साथ मिलते है। रसायनशास्त्र इसके आगे नहीं जाता। वह यह

---

* गुरुत्व स यह न समझना चाहिए कि परमाणुओं की ठीक ठीक तौल बतला दी गई। उनके गुरुत्व का केवल संबंध बताया गया कि यदि एक का गुरुत्व एक माना जाय तो दूसरे का दो होगा, तीसरे का चार होगा।

नहीं बतलाता कि परमाणुओं की आकृति, प्रकृति, अंतःक्रिया आदि कैसी हैं। *

भिन्न भिन्न मूलद्रव्यों का भिन्न भिन्न मूलद्रव्यो के साथ जो परस्पर प्रीतिसंबंध है वह ध्यान देने योग्य है। यह प्रीतिसंबंध कुछ मूलद्रव्यो के साथ कुछ मूलद्रव्यो के रासायनिक रीति से मिलने और कुछ के न मिलने में देखा जाता है। मूलद्रव्यो के व्यापार मे उदासीनता से लेकर प्रबल से प्रबल प्रीति का उसी प्रकार दृष्टांत मिलता है जिस प्रकार मनुष्यों विशेष कर स्त्रीपुरुषो के व्यापार मे। वह प्रबल प्रेम जिससे स्त्रीपुरुष एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं वही प्रबल चेतना-निरपेक्ष "अचेतन" आकर्षण है जिसकी प्रेरणा से शुक्रकीटाणु गर्भकीटाणु में प्रवेश करता है और हाइड्रोजन के परमाणु आक्सिजन के परमाणुओं के साथ मिलते और जलकणिका की सृष्टि करते हैं। इसका समर्थन शरीराणुरूप घटको की अंतःक्रिया या मनोव्यापार की परीक्षा द्वारा भी होता है। इन बातो के आधार पर हमारा यह निश्चय है कि द्रव्य के एक परमाणु मे भी मूलरूप की संवेदना और इच्छा अथवा अनुभूति और प्रवृत्ति होती है। उसमें भी एक अत्यंत मूलरूप की—अत्यंत सादे ढंग की—आत्मा होती है। † इन परमाणुओ के योग से बने हुए अणुओं में भी इसी प्रकार की अल्प आत्मा होती है। भिन्न

---

* परमाणु की इधर और परीक्षा हुई है। दे॰ भूमिका।

† ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा से हैकल का अभिप्राय चेतना का नहीं है। चेतना को वे एक ऐसी वृत्ति मानते हैं जो मस्तिष्क या अंतःकरण के कुछ उन्नत होने पर उत्पन्न होती है।

भिन्न प्रकार के अणु मिल कर ऐसे रासायनिक द्रव्य या रस (जैसे कललरस) हो जाते हैं जिनमे ऊपर लिखे अंतर्व्यापार भी अधिक गूढ और जटिल रूप धारण कर लेते हैं। प्राणियों के व्यापार इसी प्रकार के अंतर्व्यापार हैं।

यहाँ तक तो स्थूलद्रव्य की बात हुई। अब अत्यंत सूक्ष्म द्रव्य ईथर को लीजिए जो भौतिक विज्ञान का विषय है। प्रकाश किस प्रकार एक पिंड से निकल कर दूसरे पिंड पर जाता है इसके समाधान के लिए एक अत्यत सूक्ष्म और पतले मध्यवर्त्ती द्रव्य का अस्तित्व भौतिक विज्ञान मे कुछ दिनो से माना जाने लगा था, पर उसका विशेष रूप से परिचय तब हुआ जब विद्युत् के तत्वों की छानबीन की गई, उसके अनेक प्रकार के प्रयोग किए गए और उसकी गति आदि की मीमांसा की गई। अब ईथर की वास्तविक सत्ता वैज्ञानिकों मे सर्वत्र मानी जाती है। पर अभी कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते है कि ईथर एक अनुमान मात्र है। ऐसा कहने वाले सृष्टितत्त्व से अनभिज्ञ दार्शनिक और चलते हुए साधारण लेखक ही नही कुछ वैज्ञानिक लोग भी हैं। पर यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं, क्योकि एसे करामाती दाशनिक भी हुए हैं जिन्होने इस दृश्य जगत तक की सत्ता अस्वीकार की है। उनकी समझ मे केवल एक ही वास्तविक सत्ता है—वही उनकी परम प्रिय अमर आत्मा। योरप मे डेकार्ट, बर्क्ले और फिक्ट इसी प्रकार के दार्शनिक हुए हैं *। कई एक ने तो इस

---

* भारतवर्ष में इनके बहुत पहले यह मत प्रकट हुआ था।

आत्माद्वैतवाद को तत्वज्ञवर कांट के इस कथन का ठीक अभिप्राय न समझने के कारण ग्रहण किया है कि बाह्य जगत् का हमें जो बोध होता है वह प्रतीतिमूलक है अर्थात् उन्हीं रूपों में होता है जिन रूपों में (इंद्रियों के सहित) हमारे मन को दिखाई पड़ता है। कांट का कहना है कि वस्तुओं का चित्त-निरपेक्ष वास्तव स्वरूप मनुष्य नहीं जान सकता। पर यदि अंत:करण द्वारा हमें भूतात्मक जगत् का अपूर्ण और परिमित ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है तो यह कोई ऐसा कारण नहीं जिससे हम एकदम जगत् का अस्तित्व ही न मानें। अस्तु, ईथर का होना उसी प्रकार निश्चित है जिस प्रकार स्थूल द्रव्य का होना। जिस प्रकार गुरुत्व आदि के अनुभव द्वारा हमें स्थूल द्रव्य के अस्तित्व का निश्चय होता है उसी प्रकार विद्यु-त्क्रिया और रश्मिविश्लेषण की परीक्षा और अनुभव द्वारा हमे ईथर के अस्तित्व का निश्चय होता है।

यद्यपि ईथर का अस्तित्व अब प्राय: सब वैज्ञानिक मानते हैं और उसके बहुत से गुणो का परिचय विद्युत् की क्रिया और प्रकाश की किरनों की विविध परीक्षाओ द्वारा सब को होगया है पर उसके वास्तविक रूप और प्रकृति के संबंध में कोई एक निश्चित मत नहीं। जिन वैज्ञानिकों ने ईथर के विषय में विशेष रूप से विचार किया है उनके मत परस्पर विभिन्न और विरुद्ध हैं। अत: जो मत मुझे सब से ठीक जान पड़ा है उसे मैं नीचे देता हूँ—

(१) ईथर (आकाश द्रव्य) एक अखंड और अनव-च्छिन्न (अर्थात् अण्वात्मक नहीं) द्रव्य है और संपूर्ण

दिक् मे व्याप्त है; यहाँ तक कि परमाणुओ के बीच जो अंतर होता है वह भी ईथर से परिपूर्ण रहता है।

(२) ईथर के अण्वात्मक न होने से उसमें कोई रासायनिक गुण नहीं माना जा सकता, वह सर्वत्र एकरस रहता है। क्योकि यदि ईथर को भी अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं के द्वारा संयोजित मानें तो फिर इन ईथराणुओं के बीच कोई और भी सूक्ष्म तत्त्व अखंड रूप से व्याप्त मानना पड़ेगा। पर इस प्रकार बराबर मानते चले जाने से अनवस्था आती है। अत कही न कही चलकर हमे एक अखंड, अनवाच्छिन्न तत्व मानना ही पड़ेगा।

(३) जब कि शून्य स्थान की भावना हो नहीं सकती और एक पिंड का दूसरे पिंड पर दूर से बिना किसी मध्यस्थ के आकर्षण आदि प्रभाव डालना संभव नहीं तब ईथर के विषय मे यही मानना उचित है कि स्थूल द्रव्य के समान उसका ढाँचा अणुघटित नहीं ,बल्कि आकाशीय वा गत्यात्मक (प्रकाश आदि की किरणो का वाहकस्वरूप और आकर्षणशक्ति का प्रवर्त्तकस्वरूप) है। ईथर वायु से कहीं अधिक सूक्ष्म आकाशरूप तत्व है।

(४) ईथर को हम अग्राह्य द्रव्य कह सकते हैं क्योंकि उसकी तोल आदि जानने का कोई साधन हमारे प स नही है। यदि उसमें कुछ गुरुत्व हो तो भी उसको जानना वैज्ञानिकों के सूक्ष्म से सूक्ष्म मानयत्र की शक्ति के बाहर है।

(५) आकुंचन सिद्धांत के अनुसार द्रव्य ईथर वा आकाशीय रूप से उत्तरोत्तर जमाव की प्रक्रिया द्वारा वायव्य

रूप में आ सकता है ठीक उसी प्रकार जैसे वायव्य द्रव्य द्रव-रूप में, और द्रव स्थूल वा ठोसरूप मे परिणत हो सकता है।

(६) अतः, उत्तरोत्तर रूपप्राप्तिक्रम के अनुसार द्रव्य की पाँच अवस्थाएँ कही जा सकती हैं—ईथरीय वा आकाशीय, वायव्य, द्रव, कणात्मक (जैसे कललरस की होती है) और ठोस।

(७) ईथर दिक् के समान अनंत और अपरिमेय है। वह सदा गति में रहता है। पिंडगति (आकर्षण) के साथ परस्पर कार्य करती हुई ईथर की यही नित्यगति (चाहे यह क्षोभ के रूप में मानी जाय अथवा खिंचाव या जमाव के रूप में) जगत् के संपूर्ण व्यापारों का मूल कारण है।

ईथर (आकाश द्रव्य) और ग्राह्य (स्थूल) द्रव्य सदा एक दूसरे के लगाव में ही नहीं रहते बल्कि एक दूसरे पर

व्यक्त-प्रकृति
जगत्

ईथर (आकाशरूप द्रव्य)—अग्राह्य	पिंड—ग्राह्य
१ स्वरूप आकाशीय (अर्थात् न वायव्य, न द्रव, न ठोस)	१ स्वरूप ठोस, द्रव वा वायव्य
२ विधान अण्वात्मक नहीं, अखंड और व्यापक	२ विधान अण्वात्मक, अत्यंत सूक्ष्म परमाणुओं से संघटित और खंडित
३ गुण प्रकाश, ज्योतिर्मय ताप, विद्युत् और चुंबक	३ गुण गुरुत्व, अधिचलल, अण्वात्मक ताप, रासायनिक प्रवृत्ति

अपनी क्रिया करते रहते हैं।' प्रकृति के गुणों और व्यापारों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—ईथर के गुण और व्यापार, स्थूल द्रव्य के गुण और व्यापार।

द्रव्य के गुणों और व्यापारो के ये दोनों वर्ग द्रव्य के उन्नतिविधान मे आदि "कार्य-विभाग" हैं। पर कार्य्यतः अलग होते हुए भी ये दोनों वर्ग सदा संबंधसूत्र में बँधे रहते हैं और एक दूसरे पर कार्य्य किया करते हैं। यह जानी हुई बात है कि विद्युत् और रश्मिसंबंधी व्यापारो और ग्राह्य द्रव्य के भौतिक और रासायनिक विकारो में घनिष्ट संबंध होता है। ईथर का ज्योतिर्मय ताप भौतिक पिंड के ताप के रूप में परिणत किया जा सकता है। इसी प्रकार एकरूप की गतिशक्ति दूसरे रूप की गतिशक्ति मे परिवर्त्तित हो सकती है। इन बातों से स्पष्ट है कि परमतत्व के दोनो रूप, ईथर और पिंड, सदा मिलकर कार्य्य किया करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है विश्व में गतिशक्ति का योग सदा एक ही रहता है, हमारे चारों ओर चाहे जो उलट फेर हों उसमे कुछ भी अंतर नहीं पड़ता। गतिस्वरूपा शक्ति भी उस द्रव्य के समान जो उसका आश्रय है नित्य और अनंत है। प्रकृति का सारा रंगस्थल चराचर का खेल है। उसमें पदार्थ कभी चल और कभी अचल होते रहते हैं। जो पदार्थ स्थिर वा अचल रहते हैं उनमे उसी प्रकार गतिशक्ति रहती है जिस प्रकार चलायमान् पदार्थों में, अर्थात् वह निहित वा संचित रहती है। यही निहित शक्ति जब व्यक्त हो जाती है तब वे पदार्थ गति में होते हैं। इस भौतिक जगत् में

निहित शक्ति की और व्यक्त शक्ति की मात्रा अक्षुण्ण और एक रस रहती है। निहित गतिशक्ति व्यक्त गतिशक्ति के रूप में या व्यक्त शक्ति निहित के रूप में एक ठीक बँधे हुए हिसाब से परिवर्त्तित होती है। जिस हिसाब से एक ओर एक की वृद्धि होती है उसी हिसाब से दूसरी ओर दूसरी का ह्रास होता है। अत. अंत में शक्ति की मात्रा उतनी ही रहती है, उसमे अंतर नहीं पडता।

भौतिक विज्ञान मे जब परमतत्वसंबंधी नियम निश्चित होगए तब शरीरविज्ञानियो ने, उनकी चरितार्थता शरीरियों में में भी दिखलाई। उन्होंने सिद्ध किया कि जड़ पदार्थो के नियमित व्यापार जैसे गतिशक्ति की विविध क्रियाओ के अनुसार होते हैं वैसे ही जीवों के सब शरीरव्यापार, जैसे एक धातु से दूसरी धातु मे परिवर्त्तन आदि, गतिशक्ति की नियमित क्रियाओं के अनुसार होते हैं। उद्भिदों और जतुओं की वृद्धि और पोषण आदि व्यापार ही नहीं बल्कि उनके संवेदन ओर अंगसंचालन, उनके इंद्रियव्यापार और अतःकरण व्यापार भी निहित गतिशक्ति के व्यक्त गतिशक्ति में और व्यक्त गतिशक्ति के निहित गतिशक्ति में परिवर्त्तित होने पर अवलंबित है। मनुष्य तथा दूसरे उन्नत प्राणियों मे जो मन या बुद्धि की वृत्तियाँ कहलाती हैं वे भी परमतत्व के इन्हीं नियमों के अधीन हैं।

भौतिक अद्वैतदृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि परमतत्वसंबंधी नियम विश्व मे सर्वत्र चलता है। यह बात ध्यान देने योग्य है क्योंकि इससे विश्व की एकमूलता का

और उसके अंतर्गत होनेवाली सारी बातों के कार्य्य-कारण संबंध का निरूपण ही नहीं होता बल्कि ईश्वर, आत्मस्वातंत्र्य और अमरत्व इन तीन काल्पनिक प्रवादों का एकदम निराकरण भी हो जाता है।

तीसरा प्रकरण।

जगत् का विकाश।

जगत् की उत्पत्ति का विषय बड़ा भारी और बहुत टेढ़ा है। पर उन्नीसवीं शताब्दी मे ज्ञान के विविध क्षेत्रों में जो अद्भुत उन्नति हुई है उससे इस विषय का बहुत कुछ विचार हो गया है। सृष्टिसंबंधी जितनी बातें हैं सब का अंतर्भाव जादू भरे एक 'विकाश' शब्द मे हो जाता है। मनुष्य की उत्पत्ति, पशुओं की उत्पत्ति, वनस्पतियों की उत्पत्ति, सूर्य्य, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति के संबंध मे अलग अलग प्रश्न न करके केवल एक ही प्रश्न किया जा सकता है—समस्त जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई? किसी दैवी शक्ति से उसकी सृष्टि हुई है अथवा प्राकृतिक विधान के अनुसार उसका क्रमशः विकाश हुआ है? यदि क्रमशः विकाश हुआ है तो किस प्रकार?

प्राचीन काल की पौराणिक व्याख्या के अनुसार तो सृष्टि बनाई गई है। धर्मग्रंथों में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बड़ी अलौकिक और अद्भुत कथाएँ मिलती हैं। किताबी या पैगंबरी धर्मों (यहूदी, ईसाई, इसलाम) के कारण इन कहानियों का बहुत प्रचार हुआ है। * ईसाई धर्म के प्रचार के

---

* इन अनार्य्य धर्मों में पुराण हैं, शास्त्र नहीं। एक एक पौराणिक पुस्तक (तौरेत, इंजील, कुरान) को लेकर ही ये धर्म चलते हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि आर्य्य धर्मों में पुराण और शास्त्र

पहले यूनान के स्वतंत्र दार्शनिको और तत्वज्ञो ने सृष्टि के विकाश के संबंध में अच्छा विचार किया था। ईसाई धर्म के साथ ही साथ यहूदियो के किस्सो और कहानियो का प्रचार हुआ। आर्य्यवंशीय ज्ञानवृद्ध और स्वतंत्र यूनानी जाति के आगे अनार्य्य यहूदी जाति बिल्कुल गँवार और जगली थी। प्राकृतिक कारण से सृष्टि के क्रमशः विधान का भाव तो उसके अनुन्नत अंत करण में आ नहीं सकता था, अतः वह जगत् की उत्पत्ति को किसी देवी देवता की करामात समझने के सिवा और कर ही क्या सकती थी ? इस सृष्टिकर्तृत्ववाद में पुरुषविशेषवाद मिला हुआ है। इसे माननेवाले समझते हैं कि कुम्हार जैसे अनेक प्रकार के बरतन उनके ढॉचे सोच कर बनाता है वैसे ही सृष्टिकर्त्ता जगत् को बनाता है। इस सृष्टि-

---

दानो हैं। विद्वान् लोग प्रायः शास्त्रीय चर्चा में ही अपना समय लगाते है। हिन्दुओ के पुराणों में जिस प्रकार आदि में जल के ऊपर शेषशायी भगवान् के रहने और उनकी नाभि के कमल से उत्पन्न ब्रह्मा के चराचर सृष्टि बनाने की कथा है लिखी है उसी प्रकार उनके साख्य शास्त्र में, एक अव्यक्त मूल प्रकृति से क्रमश संपूर्ण तत्वों के विकाश का गभीर निरूपण भी किया गया है। पर ईसाइयों का एकमात्र आधार उनका पुराणग्रंथ बाइबिल है जिसमें लिखा है कि ईश्वर ने छः दिन में आकाश, पृथ्वी, जल तथा वनस्पतियों और जीवों को अलग २ उत्पन्न किया, मनुष्य का पुतला बनाकर उसमें अपनी रूह फूँकी। इसी से योरप में जब पहले पहल सृष्टिविकाश का निरूपण हुआ तब वहाँ बड़ी खलबली मची।

कर्त्ता की भावना मनुष्य या पुरुष-विशेष के रूप में ही की जाती है।

सृष्टि की उत्पत्ति की भावना दो रूपों मे देखी जाती है—एक तो संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति की और दूसरी उसके विविध अंगों की उत्तरोत्तर उत्पत्ति की। सृष्टि का एक कर्त्ता माननेवाले लोगो में जो युक्ति और बुद्धि की भी दुहाई देते हैं उनका कहना है कि ईश्वर ने आदि मे सपूर्ण जगत् का मूल या वीज उत्पन्न कर दिया, उसमें नानारूपो के विकाश की शक्ति भर दी और फिर चुपचाप बैठ रहा। यह कथन विशेषतः आजकल के मतसंशोधको का है। ये विकाशपरंपरा को एक प्रकार से मानते हैं पर मूल मे जाकर उसे छोड़ देते हैं और वहा अपने सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को स्थापित करते हैं। दूसरे धार्म्मिक सृष्टिवादियो का कहना है कि ऐसा नहीं, ईश्वर वराबर सृष्टि का पालन और शासन करता है, उसे एक बार बना कर फिर किनारे नही हो जाता। इन लोगो के विचार कभी वढ़ते वढ़ते सर्ववाद तक पहुँच जाते हैं और कभी शुद्ध ईश्वरवाद ही तक रहते हैं।

जगत् की सृष्टि के संबंध मे जो अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं उनमे से कुछ ये हैं—

(१) द्विविध सृष्टि—ईश्वर ने दो बार सृष्टि की। एक बार तो उसने जड़जगत् अर्थात् निर्जीव द्रव्य को उत्पन्न किया जो उसे भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन है जो अचेतन रूप मे कार्य करती है। फिर चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसकी स्वतंत्र शक्ति से जीवधारियों के विकाश की व्यवस्था हुई।

(२) त्रिविधसृष्टि—ईश्वर ने तीन बार करके सृष्टि की। पहले उसने आसमान को बनाया, फिर ज़मीन को बनाया, पीछे अपने आकार के अनुसार मनुष्य की रचना की। यह बात ईसाई मत के उपदेशको के मुहँ से बहुत सुनी जाती है।

(३) साप्ताहिक सृष्टि–मूसा की किताब मे लिखा है कि छः दिनो मे ईश्वर ने चटपट सारी सृष्टि बना कर तैयार कर दी और सातवे दिन आराम किया। पढ़े लिखे लोगो मे अब शायद ही कोई ऐसा निकले जो इस कहानी को ठीक मानता हो। फिर भी आजकल के कुछ धर्म्माभिमानी आधुनिक विज्ञान के शब्दों मे इस कहानी की विशद व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। १८ वी शताब्दी तक जीवविज्ञानियों पर इस कहानी का बहुत कुछ प्रभाव था। १७३५ में लिन्नी नामक प्राणिविज्ञान वेत्ता ने जंतुओ का वर्गों मे विभाग आदि तो किया पर भिन्न भिन्न योनियों के विषय मे उसने यही कहा कि "संसार मे योनियाँ उतनी ही है जितनी के ढाँचे सृष्टि के आदि मे ईश्वर ने उत्पन्न किए थे।" डारविन ने इस प्रवाद का पूर्णरूप से खडन कर दिया।

(४) कल्पसृष्टि—अर्थात् प्रत्येक जीवकल्प या मन्वंतर के आदि में फिर से नए जीवो और वनस्पतियो की सृष्टि होती है और उस जीवकल्प के अंत मे सब का नाश हो जाता है। भूगर्भस्थपंजरानुसंधान विद्या ने इस कल्पना की असारता सिद्ध कर दी है।

(५) व्यक्तिशः सृष्टि—प्रत्येक जीव जतु जो उत्पन्न होता है वह प्राकृतिक नियम के अनुसार नहीं, बल्कि ईश्वर के द्वारा रचा जाता है। यह विश्वास साधारण जनों का है।

इस प्रकार की ऊटपटांग कल्पनाओं से प्राचीन काल के विचारशील पुरुषों का भी समाधान नहीं हुआ। प्राचीन काल के अनेक दार्शनिकों ने शुद्ध चिंतन के बल से प्राकृतिक कारण-परं-परा दिखा कर सृष्टितत्त्व का निरूपण किया। आजकल की सी वैज्ञानिक परीक्षाएँ सुलभ न होने पर भी उनका उस काल में इस प्रकार तत्व तक पहुँचना निस्संदेह आश्चर्य्य की बात है। भारतवर्ष, यूनान आदि सभ्यता के प्राचीन पीठों में ऐसे अनेक तत्वदर्शी हो गए हैं। पर साम्प्रदायिक कल्पनाओं का जाल उनके निरूपित तत्वों को लोगों की दृष्टि से छिपाने का बराबर यत्न करता रहा। योरप में जब ईसाई मत का प्रचार हुआ तब सब प्रकार के स्वतन्त्र तात्विक विचार दबा दिए गए। ईसाई धर्म्माचार्य्यों की कोपाग्नि के भय से कोई ऐसी बात मुँह से निकाल तक न सकता था जो खुदाई किताब के विरुद्ध पड़ती हो। पर धीरे धीरे ज्ञान की ज्योति का फिर उदय हुआ और वैज्ञानिक युग आया। प्रकृति में किस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक गुणों और रूपों का स्फुरण हुआ है इसका पता लगा। विकाश-सिद्धांत की स्थापना हुई। उसके आधार पर विश्वविधान के नियमों का निरूपण हुआ। विश्व के अंतर्गत लोकों की उत्पत्ति, पृथ्वी की उत्पत्ति, वनस्पति जीवजंतु आदि की उत्पत्ति इन सब विषयों को लेकर प्रत्यक्ष प्राकृतिक नियमों के आधार पर अलग अलग शास्त्रों की नीवँ पड़ी। विस्तार के भय से सब का यहाँ पूरा वर्णन न करके चार मुख्य विषयों को लेता हूँ-(१) विश्व या जगत् की उत्पत्ति, (२) पृथ्वी की उत्पत्ति, (३) जीवों की उत्पति और (४) मनुष्य की उत्पति।

१ अद्वैत दृष्टि से जगत् की उत्पत्ति का निरूपण।

प्राकृतिक नियमों के अनुसार जगत् की उत्पत्ति और विधान की व्याख्या पहलेपहल जरमनी के तत्वज्ञवर कांट ने १७७५ मे अपनी एक पुस्तक मे की। पर दुर्भाग्यवश वह पुस्तक प्रकाशित न होने के कारण ९० वर्ष तक लुप्त रही। १८४५ मे वह मिली और प्रकाशित की गई। इस बीच मे लाप्लेस नामक एक फरासीसी तत्ववेत्ता भी स्वतंत्र रीति से उसी सिद्धांत पर पहुँचा जिस सिद्धांत पर कांट पहुँचा था। इन दोनों तत्वज्ञो ने ग्रहो और नक्षत्रो की गति की गणित की रीति से भौतिक व्याख्या की ओर यह दिखलाया कि अंतरिक्ष के समस्त पिंड (पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह, सूर्य्य इत्यादि सब) घूमती हुई ज्योतिष्क नीहारिका के जमने से उत्पन्न हुए हैं। इस ज्योतिष्क नीहारिका के सिद्धांत द्वारा ब्रह्मांड के भिन्न भिन्न लोको की उत्पत्ति का भौतिक कारण बहुत कुछ समझ में आ गया। पीछे इस सिद्धांत मे और उन्नति हुई और यह स्थिर किया गया कि लोको की उत्पत्तिं का यह विधान केवल एक ही बार नही हुआ है बल्कि बराबर होता रहता है। जब कि विश्व के किसी एक भाग में घूमती हुई ज्योतिष्क नीहारिका से नए नए पिंड ब्रह्मांडो की उत्पत्ति होती रहती है दूसरे भाग मे जर्जर ठंढे पड़े हुए सूर्य्य परस्पर टकराते है और उत्पन्न ताप के प्रभाव से फिर सूक्ष्म नीहारिका की दशा को प्राप्त हो जाते हैं। विश्व का यह क्रम नित्य है, उसमें साथ ही कुछ लोको का लय और कुछ लोको की उत्पत्ति होती रहती है। अतः उत्पत्ति और लय हम किसी एक विशेष

लोक या लोकमंडल (जैसें पृथ्वी आदि सहित हमारा सूर्य) ही के संबंध में कह सकते हैं, समष्टि विश्व के संबंध मे नहीं। समष्टिरूप मे विश्व सदा से है और सदा रहेगा। अत्यंत क्षुद्र अणुरूप जो लोक हैं उनके रूपांतरित होते रहने से उसकी नित्यता में कुछ भी अंतर नहीं पड़ सकता।

कांट, लाप्लेस आदि ने ब्रह्मांडो की उत्पत्ति का विधान तो समझाया पर लोगों की यह धारणा बनी रही कि समस्त विश्व का कोई आदि था। इन तत्वज्ञो का यह कथन कि आदि मे एक अत्यंत सूक्ष्म नीहारिका रूप ज्योतिष्क द्रव्य था लोकों और ब्रह्मांडो (सूर्य्य, ग्रह, उपग्रह, इत्यादि) के संबंध मे था समष्टि विश्व के संबंध में नहीं। पर 'आदि मे' इस शब्द का अर्थ लोगो ने यही समझा कि समस्त विश्व का ही कोई आदि था। इस समझ के कारण यह शंका हुई कि विश्व के आदि मे जो मूल ज्योतिष्क द्रव्य था उसमे गति कहाँ से आई। कुछ दार्शनिक चट कहने लगे कि वह गति 'अप्राकृतिक शक्ति' वा 'दैवी प्रेरणा' से उत्पन्न हुई।

मेरी समझ में इस प्रकार की शंका सर्वथा निर्मूल है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ गति और संवेदन परमतत्व या मूल प्रकृति के गुण हैं। इस बात का प्रमाण द्रव्य और गति की अक्षरता के नियम से तथा भौतिकविज्ञान की परीक्षाओ और आधुनिक ज्योतिष के वेधों से बराबर मिलता है। प्रकाश की किरनो की जो वैज्ञानिक परीक्षा की जाती है उससे पता लग जाता है कि वे किरनें कितनी दूर से आ रही हैं और किस प्रकार के द्रव्यों से आ रही हैं। इस प्रकार की परीक्षा से यह सिद्ध हो चुका है

कि अनंत अंतरिक्ष में जो करोड़ों पिंड (नक्षत्र, ग्रह, उपगह, उल्का, इत्यादि के रूप में) हैं वे उन्हीं द्रव्यों से बने हैं जिन द्रव्यों से हमारी पृथ्वी और सूर्य्य आदि बने हैं तथा वे विकाश की भिन्न भिन्न अवस्थाओं मे हैं अर्थात् कोई बन रहे हैं, कोई विगड़ रहे हैं। किरण–विश्लेषण यंत्र के सहारे ऐसे ऐसे नक्षत्रो की दूरी और गति आदि का पता लगा है जिनके विषय मे दूरबीन कुछ भी नहीं बतला सकते थे। इसके अति-रिक्त दूरबीन के साथ फोटोग्राफी का जो संयोग हुआ उसके द्वारा ऐसी ऐसी बातों का पता लगा जिनका पचास वर्ष पहले स्वप्न में भी किसी को ध्यान नहीं था। केतुओ (पुच्छल तारों), उल्काओं, तारकपुंजों और ज्योतिष्क-नीहारिकाओ का जो सूक्ष्म अन्वीक्षण किया गया उसके द्वारा उन असंख्य छोटे छोटे पिंडो का महत्व प्रकट हुआ जो नक्षत्रों के बीच के अंतर स्थानो मे भरे पड़े हैं।

पहले लोगो का ख्याल था कि अंतरिक्ष में घूमनेवाले पिंडों के मार्ग विल्कुल बँधे हुए हैं उनमें कुछ भी फेरफार नहीं होता, पर अब यह मालूम हो गया है कि उनके मार्गों में भी फेरफार पड़ता रहता है, वे एक ही लीक पर बिना कुछ इधर उधर हुए बराबर नहीं घूमते रहते हैं.। किरण-विश्लेषण तथा विद्युत्क्रिया और ईथर के निरूपण आदि भौतिक विज्ञान के अंगो का योग पाकर इधर ज्योतिष विद्या ने बहुत ही पूर्णता प्राप्त की है। द्रव्य और गतिशक्ति की अक्षरता संबंधी जो परमतत्त्व का नियम निरूपित हुआ उसके द्वारा आधुनिक विज्ञान मे बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त हुई। अब हमारी ज्ञानदृष्टि इस सौर जगत्

के भी बहुत आगे लोक लोकांतरों तक पहुँची है और हमने सर्वत्र इसी नियम को पाया है। अब हम कह सकते हैं कि यह नियम सर्वदेशव्यापी है। इसी प्रकार हमें यह भी मानना पड़ता है कि द्रव्य और शक्ति की अक्षरता का यह नियम सर्वकालव्यापी है अर्थात् नित्य है। जिस प्रकार समस्त विश्व आज इसके अधीन है उसी प्रकार सदा से रहा है और सदा रहेगा।

आधुनिक विज्ञान और ज्योतिष के सहारे विश्व के विधान और विकाश के संबंध में जो तत्व निरूपित हुए हैं वे संक्षेप में ये हैं—

(१) जगत् या विश्व का विस्तार अनत है। वह कहीं शून्य नहीं है. सर्वत्र द्रव्यमय है।

(२) जगत् शाश्वत और नित्य है, वह सदा से है और सदा रहेगा। उसका न कहीं आदि है, न अंत।

(३) परमतत्व सतत गतिशील और परिणामी है। वह सदा गति में रहता है और उसका बराबर रूपांतर या अवस्थांतर होता रहता है। जगत् में कहीं पूर्ण शान्ति या अचलता नहीं है। पर इस गति के होते हुए भी जगत् में द्रव्य और सतत परिणामशील गति की जो मात्रा है वह सदा वही रहती है।

(४) मूलप्रकृति या परमतत्व की जो नित्य गति है वही लोकों के विकाश में कल्प का रूप धारण करती है जिसके भीतर लोकों का विकाश और लय होता रहता है। कल्पों का यह विधान अनंत विश्व में अलग अलग बराबर चलता रहता है। दिक् के जिस भाग में विकाश कल्प का आरंभ रहता है वहाँ

लोकों की उत्पत्ति होती है और जिस भाग मे उसका अंत होता है वहाँ लोको का लय होता है। यह क्रम बरावर साथ ही साथ चलता रहता है।

(५) विकाश-कल्प का आरंभ इस प्रकार होता है कि कल्पांत के पीछे जब मूलप्रकृति अल्पकाल के लिए साम्यावस्था मे आ जाती है तब फिर से उसके घनत्व मे भेद पड़ता है और स्थूल द्रव्य और आकाश द्रव्य (ईथर) इन दो रूपों मे आदि विभाग होता है।

(६) यह विभाग द्रव्य के उत्तरोत्तर जमने से होता है जिसके कारण जमाव के अनंत केन्द्र बन जाते हैं। केन्द्ररूप परमाणुओ मे प्रवृत्ति और संवेदन परमतत्व के ये ही दो मूल गुण होते हैं जो विविध व्यापारो के कारणस्वरूप हैं।

(७) जब दिक् के एक भाग में जमाव के द्वारा इस प्रकार क्रमश. छोटे से बड़े पिंडों का विधान होता है और आकाशद्रव्य का तनाव बढ़ता है तब दूसरे भाग मे इसी का उलटा होता है अर्थात् बड़े बड़े लोकपिंड एक दूसरे से टकरा कर नष्ट हो जाते हैं।

(८) वेग के साथ भ्रमण करते हुए लोकपिंडो के टकराने से प्रचुर परिमाण मे जो ताप उत्पन्न होता है वही व्यक्त गतिशक्ति होकर फैली हुई ज्योतिष्कनीहारिका को अमित वेग से घुमाता है और नए घूमते हुए ज्योतिष्कपिंडों का विधान करता है। इस प्रकार लोकविधान का क्रम फिर से जारी होता है। इसी प्रकार हमारी यह पृथ्वी भी, जो न जाने कितने अरब वर्ष पहले इसी प्रकार बनी थी, अंत में ठंढी और

निर्जीव हो जायगी और अपने घूमने की कक्षा को क्रमशः छोटी करती हुई (अर्थात् सूर्य्य से जितनी दूरी पर वह घूमती है उससे क्रमश. और कम दूरी पर घूमती हुई) सूर्य्य में जा गिरेगी।

आधुनिक विज्ञान और ज्योतिष के द्वारा निर्धारित ऊपर लिखी बातों से विकाश सिद्धांत के व्यापकत्व का पूरा बोध हो जाता है। विश्वविधान संबंधी इन बातों पर विस्तृत दृष्टि रखकर यदि हम अपनी पृथ्वी को देखें तो वह रंध्रगत प्रकाश में दिखाई पड़ते हुए त्रसरेणु के तुल्य भी नहीं ठहरती। ऐसे ऐसे असख्य लोकपिंड अणुओं के रूप में अपार दिक् समुद्र में भ्रमण कर रहे हैं। मनुष्य जो मोह में पड़कर अपने को ईश्वर तुल्य कहता है, इस दृष्टि से एक क्षुद्र जरायुज जंतु के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरता। अनंत विश्वविधान मे उस का महत्व और उपयोग चींटी, जलकीटाणु आदि से अधिक नहीं दिखाई पड़ता। नित्य और अनंत परमतत्व के विकाश का मनुष्य जाति एक क्षणिक रूप या अवस्था मात्र है।

तत्वज्ञवर कांट ने दिक् और काल की व्याख्या करते हुए कहा कि ये दोनों "चित् के स्वरूप या आभास मात्र" हैं—दिक् बाह्याभास का स्वरूप है और काल अंतराभास का। *

---

* पहले के कुछ दार्शनिक देश और काल को बाह्यपदार्थ मानते थे। वैशेषिक में दिक् और काल नौ द्रव्यों में तो माने गए हैं पर समवायि कारण नहीं कहे गये हैं केवल असाधारण या निमित्त कारण कहे गए हैं। वे परत्व-अपरत्व संबंधी प्रत्यय (भाव या ज्ञान) के कारण है। देश और काल दोनों विभु, सर्वव्यापी और परम महान् हैं। यद्यपि दिक्

-ये हमारी अनुभूति या मन के ही दो रूप हैं जिनमें ढला हुआ -सारा जगत् दिखाई पड़ता है। जगत् का चित्तनिरपेक्ष वास्त- -व स्वरूप क्या है यह मनुष्य कभी नहीं जान सकता। कांट के इस कथन को लेकर अनेक प्रकार की निराधार दार्शनिक कल्पनाएँ चल पड़ीं जिनसे जगत् की सत्ता तक में -संदेह किया गया। कल्पनाप्रधान दार्शनिकों को यह कहने का मौका मिल गया कि वास्तव ज्ञान निराधार चिंतन या भाव- नाओ को लेकर ही हो सकता है, निरीक्षण या परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। यह बात कांट के अभिप्राय को न समझने के कारण हुई। कांट का उक्त कथन प्रमातृपक्ष के संबंध मे था प्रमेय पक्ष के संबंध मे नहीं। 'उसका मतलब

एक है और काल भी एकही है पर उपाधि भेद से संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये गुण उनमें आरोपित किए जाते है काल और दिक् में मुख्य भेद यह है कि कालिक-संबध स्थिर रहता है और दैशिक संबध बदलता रहता है। काल में जो आगे और पीछे होता है वह सदा ज्यों का त्यों रहता है, जो पहले होगया वह सदा पहले ही रहेगा जो पीछे हुआ वह सदा पीछे ही रहेगा। दो भाइयों में जो जेठा होगा वह सदा जेठा ही रहेगा और जो छोटा होगा वह छोटा ही रहेगा पर देश मे जो एक बार आगे है वह पीछे होसकता है और जो पीछे है वह आगे हो सकता है।

आजकल के मनोविज्ञानवेत्ता भी देश की भावना को नेत्रेंद्रियगत–संवेदन और पेशीगत गतिसंवेदन के योग से उत्पन्न मानते है।

वह था कि देश और काल को जिस रूप में मन ग्रहण करता है वह मन ही का रूप है। कांट ने स्पष्ट कहा है कि "देश और काल की विषयसत्ता है पर उसकी भावना दृश्य जगत् से अतीत है।" कांट का यह निरूपण हमारे आधुनिक तत्वाद्वैतवाद के सर्वथा अनुकूल है। पर उसके सिद्धांत का एक अंग लेकर जो विस्तार एकांगदर्शी दार्शनिकों ने किया है वह सर्वथा असंगत है। बर्कले ने यह सिद्धांत प्रकट किया था कि "पिंड प्रत्यय या भावना मात्र हैं; उनकी सत्ता उनके बोध में ही है।" इस सिद्धांत को इस रूप में कहे तो ठीक हो—"पिंड हमारे चित्त के लिए प्रत्यय या भावना मात्र हैं। उनकी सत्ता उसी प्रकार वास्तविक है जिस प्रकार हमारे अंतःकरण की, जो पिंडों को विषयरूप से ग्रहण करता है।" देश और काल की सत्ता को अस्वीकार करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है जब कि स्वप्न, सन्निपात, उन्माद आदि में लोग अपनी ऊटपटांग कल्पनाओं को ही ठीक समझते हैं। डेकार्ट का प्रत्यक्ष ज्ञान के विरुद्ध यह कहना कि—"मैं सोचता हूँ इस लिए मैं हूँ" अब माना नहीं जा सकता।* परमतत्व के

---

* डेकार्ट ने कहा था कि प्रत्यक्ष ज्ञान में मतभेद देखा जाता है, अतः बाह्यवस्तुमात्र भ्रम हो सकती हैं यह संशय रहता है। पर यदि यह निश्चित हुआ कि मुझे संशय है तो यह भी निश्चित है कि मैं सोचता हूँ। पर जो वस्तु है वही कुछ कर सकती है। इसलिए यदि मैं विचार करता हूँ तो मैं अवश्य हूँ। "मैं हूँ" यही एक निश्चय ऐसा है जिसमें कभी किसी प्रकार का भेद नहीं पड़ सकता।

नियम और जगदुत्पत्ति के विधान की अद्वैत व्याख्या हो जाने से आधुनिक दर्शन की पहुँच अब बहुत बढ़ गई। उसके अनुसार देश और काल की सत्ता अब पूर्णरूप से प्रतिपादित हो गई है। अब सौभाग्यवश 'शून्य देश' का भ्रम छूट गया है और सर्वदेशव्यापी द्रव्य का (पिंड और आकाशद्रव्य दो रूपों में) अस्तित्व सिद्ध हो गया है। इसी प्रकार सर्वकालव्यापी व्यापार नित्य गति वा शक्ति के रूप में सिद्ध हो गया है जिसकी अभिव्यक्ति नित्यगतिशील जगत् मे ब्रह्मांडों के विकाशक्रम के रूप मे होती रहती है।

कोई पिंड यदि चला दिया जाय तो तब तक बराबर चलता रहता है जब तक कि उसे बाहरी अवरोध नहीं मिलता। पर बाहरी अवरोध अवश्य मिलता है और उसकी गति धीरे धीरे मंद हो जाती है। एक लटकता हुआ लंगर यदि हिला दिया जाय तो बराबर एक चाल से अनंतकाल तक चलता रहे यदि चारो तरफ फैली हुई वायु का अवरोध न हो और जिस जगह वह लटका है वहाँ रगड़ न लगे। इस अवरोध और रगड़ के कारण लंगर मे हिलने की जो व्यक्त गतिशक्ति होती है वह ताप के रूप मे हो कर निकल जाती है। हमे उस लंगर को फिर चलाने के लिए कमानी आदि के द्वारा फिर से गतिशक्ति पहुँचानी पड़ती है। अस्तु हम ऐसी कोई कल नहीं

चेतना में 'आत्मबोध' (अपने होने का निश्चय) सदा एक रहता है यदि भेद पड़ता है तो उस क्रिया विशेष के बोध में जो विषय ग्रहण में वह आप करती है।

बना सकते जो आप से आप यह गति-शक्ति पहुँचाती रहे और बराबर चलती रहे; ऐसी कल बनाना असंभव है जो अनंत काल तक चलती रहे कभी बंद न हो। *

पर विश्व या जगत् की गति ऐसी नहीं है, वह नित्य है। विश्व अपार और अनंत है। जिस अनंत द्रव्य से वह व्याप्त है उसकी भावना या प्रत्यय को ही हम 'देश' या 'दिक्' कहते हैं। उसकी नित्य गति की जो भावना हमारे चित्त मे होती है उसे हम 'काल' कहते हैं। इस नित्यगति की विषय रूप में जो अभिव्यक्ति होती है वही विकाश-कल्प है। अनुभूति के ये दोनो रूप—स्वानुभूति (चित्त को अपने ही संस्कार या भावना का अनुभव) और बाह्यानुभूति (बाह्य विषय रूप में अनुभव)—जगत् की अनंतता और नित्यता का आभास देते हैं। यह जगत् सदा से चलती हुई और सदा चलती रहने वाली कल है। इस अनंत और नित्य क्रियावान् जगद्रूप यंत्र की नित्य गति बनी रहती है क्योंकि उसमें अवरोध से होने वाली कमी की पूर्ति गतिशक्ति की अक्षय समष्टि से हो जाती है और विश्व मे व्यक्त और अव्यक्त गतिशक्ति का अनंत योग सदा वही रहता है। गतिशक्ति की अक्षरता का जो नियम है उससे जिस प्रकार समष्टि विश्व की नित्यगतिशक्ति सिद्ध होती

---

* रेडियम की सहायता से अब ऐसी कल बनाई जा सकती है जो कई सौ वर्ष तक बराबर आप से आप चलती रहे। कुछ घड़ियाँ ऐसी बनाई भी गई हैं। रेडियम एक ऐसा द्रव्य है जिसे हम ज्योतिः स्वरूप या गतिशक्तिरूप कहें तो विशेष अत्युक्ति नहीं।

है उसी प्रकार उसके किसी खडव्यापार की नित्यगति असंभव भी सिद्ध होती है। यह नित्यगति समष्टि के संबंध में कही जा सकती है किसी खंड या व्यष्टि के संबंध मे नहीं। अस्तु शक्तिलय का सिद्धांत, जिसके द्वारा समस्त जगत् या विश्व का प्रलय कुछ वैज्ञानिकों ने कहा है, कभी माना नहीं जा सकता।

भौतिक विज्ञान मे तापसंबधी सिद्धांत के प्रवर्त्तक क्लाशियस (सन् १८५०) ने विश्वव्यापिनी गतिशक्ति को दो प्रकार की बतलाया—एक तो (ऊँचे परिमाण का ताप जिससे भौतिक पिंडविधान, तथा विद्युत् आर रासायनिक व्यापार होते है) वह जो कार्य्य रूप मे परिणत हो सकता है, दूसरी, वह जो कार्य्य रूप मे परिणत नहीं हो सकती। क्लाशियस के अनुसार यह दूसरे प्रकार की गति-शक्ति वह है जो एक बार ताप के रूप मे हो कर ठंढे पदार्थो मे मिल जाती है। यह गति-शक्ति सब दिन के लिए लयप्राप्त हो जाती है, फिर इससे जगत् का कोई कार्य्य नहीं हो सकता। इसी को क्लाशियस ने शक्तिलय कहा है। यह शक्तिलय बराबर बढ़ता जाता है। इस प्रकार जगत् की जो विधायिनी और कार्य्यकारिणी गति-शक्ति है वह बराबर ताप के रूप में परिणत हो कर लय को प्राप्त होती जाती है और फिर कार्य्यकारिणी गतिशक्ति के रूप में परिणत नही हो सकती। अत. जगत् मे ताप का जो मात्राभेद है वह न रह जायगा। ताप बिल्कुल अंतर्लीन हो कर एक अखिल और अचल द्रव्य में समान रूप से व्याप्त हो जायगा। इस साम्यावस्था के कारण जगत् की सब प्रकार

की गति बंद हो जायगी, जीवजंतु कुछ भी न रह जायँगे। शक्तिलय के इस प्रकार परमावस्था को पहुँचने पर महाप्रलय या समस्त विश्व का अंत हो जायगा।

शक्तिलय का यह सिद्धांत यदि ठीक माना जाय तो जिस प्रकार जगत् का अंत होगा उसी प्रकार उसका आदि भी मानना ही पड़ेगा जिसमे शक्तिलय आरंभावस्था में होगा और ताप का मात्राभेद अपनी पूरी हद पर रहेगा। पर ये दोनों बातें द्रव्य और शक्ति की अक्षरता के सिद्धांत के विरुद्ध है। जगत् का न कोई आदि है, न अंत। समष्टि रूप मे विश्व या जगत् शाश्वत और नित्य-गतिवान् है। उसमें व्यक्त गतिशक्ति निहित और निहित गतिशक्ति व्यक्त के रूप में बराबर परिणत होती रहती है। दोनों शक्तियों का योग विश्व मे सदा वही रहता है।

शक्तिलय की बात विश्व के खंडव्यापारों के संबंध मे ही कही जा सकती है, विश्वसमष्टि के संबंध मे नहीं। अलग अलग जो विधान होते हैं उनमे अलबत्त ऐसा होता है कि जो शक्ति ताप के रूप में अंतर्लीन हो जाती है वह फिर क्रिया-रूप मे नहीं परिणत की जा सकती—जैसे एंजिन मे ताप क्रिया-रूप में तभी परिणत होता है जब वह गरम पदार्थ (भाप) से निकल कर ठंढे पदार्थ (जल) मे जाता है। इस प्रकार गए हुए ताप को हम फिर क्रियारूप में नहीं ला सकते, उससे फिर काम नहीं ले सकते। पर अखिल विश्व-विधान की व्यवस्था दूसरी है—उसमें लयप्राप्त गतिशक्ति फिर कार्य्यरूप में परिणत होती है। जब लोकपिंड वेग से टकरा कर चूर चूर हो जाते है तब प्रचुर मात्रा में ताप छूटता है जिससे भ्रमण करते हुए

उल्कासमूहों की और उनसे लोकपिंडों की फिर से उत्पत्ति होती है। यह भवचक्र बराबर चलता रहता है।

(२) पृथ्वी की उत्पत्ति

जिस पृथ्वी के निर्माण का संक्षिप्त वृत्तांत मैं देना चाहता हूं वह जगत् का एक अत्यंत क्षुद्र अंश है। पृथ्वी की उत्पत्ति आदि के संबंध मे भी नाना प्रकार की कल्पनाएँ, अनेक प्रकार के प्रवाद बहुत दिनो से चले आते थे। इस विषय की वैज्ञानिक रीति से छानबीन सन् १८२२ से आरंभ हुई। प्रत्यक्ष बातो के आधार पर पृथ्वी के क्रमशः वर्त्तमान रूप मे आने के इतिहास का पता लगाया गया। उसकी अलग अलग तहो की परीक्षा की गई और उनके निर्माण के कारण और काल आदि निश्चित किए गए। इस प्रकार भूगर्भशास्त्र की नीवँ पड़ी।

सूर्य्य से ग्रहपिंडो के निकल निकल कर अलग होने के पहले एक बड़ा भारी गोल ज्योतिष्कनीहारिका-पिंड था जो चक्र के समान अत्यंत वेग से घूमता था। जब यह पिंड क्रमशः जमने लगा तब केन्द्ररूप ज्वाला का एक घूमता गोला मध्य में हो गया और किनारे उसी प्रकार घूमते हुए ज्वलन्त नीहारिकारूप कटिबंध या छल्ले रह गए। ये छल्ले भी क्रमशः जम कर घने पिंड के रूप मे हो गए और स्वतंत्र रूप से अपने अपने अक्षों पर फिरते हुए उस मध्यवर्त्ती ज्वलंत गोले के चारों ओर परिक्रमा करने लगे। मध्यवर्त्ती ज्वलंत गोला हमारा सूर्य्य है और उसकी परिक्रमा करते हुए पिंड ग्रह हैं। इन्हीं ग्रहो में से हमारी यह पृथ्वी है। पहले यह भी ज्वलंत गोले के रूप मे थी पीछे

ऊपरी तह ताप के निकलने से ठंढी होकर पतले ठोस छिलके या पपड़ी के रूप में हो गई। भूतल जब कुछ और ठंढा पड़ा तब वह भाप जो उसे चारो ओर से आच्छादित किए थी जम कर जल के रूप मे हो गई। इस प्रकार पृथ्वी पर जल का आविर्भाव हुआ जो आगे चल कर जीवोत्पत्ति का आधार हुआ। जल ही मे जीवो की उत्पत्ति हुई। जल के विना जीवो की उत्पत्ति नहीं हो सकती*। भूतल पर जल का प्रादुर्भाव सोचिए तो कब हुआ होगा। कम से कम दस करोड़ वर्ष हुए होंगे।

३ जीवोत्पत्ति

इस भूलोक मे जीवो का प्रादुर्भाव विकाश-कल्प की तीसरी अवस्था है। किस प्रकार पृथ्वी पर भिन्न भिन्न रूप के जीव हुए यह एक बड़ा दुरूह प्रश्न समझा जाता था। इसका ठीक उत्तर आज से सौ वर्ष पहले कही से नहीं मिलता था। पर आधुनिक जीवविज्ञान और जात्यंतरपरिणाम या रूपांतर-परंपरा के सिद्धांत द्वारा इस प्रश्न का उत्तर अब सहज हो गया। जीवधारियों के बहुत से व्यापारों की व्याख्या अब भौतिक नियमो के अनुसार हो गई है। यह दिखला दिया गया है कि चेतन प्राणियो की गति विधि भी उन्ही नियमो के अनुसार होती है जिन नियमो के अनुसार जड़ पदार्थों की। इसका मार्ग पहले पहल १८०९ मे फरासीसी वैज्ञानिक लामार्क ने दिखलाया। उसने बतलाया कि आज कल जो असंख्य प्रकार के पेड़ पौधे और जीव दिखाई पड़ते हैं वे सब एक मूलरूप से क्रमशः रूपांतरित होते हुए

* जल का एक नाम जीवन भी है।

अपने वर्तमान रूपों को प्राप्त हुए हैं। यह रूपांतर स्थिति-परिवर्त्तन के अनुसार होता आया है। जीवोत्पत्ति के सिद्धांत मे जो कुछ कसर थी वह डारविन ने अपने "प्राकृतिक ग्रहण-सिद्धांत" द्वारा पूरी कर दी। यह विषय पांचवे प्रकरण में आ चुका है इससे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

४ मनुष्योत्पत्ति

विकाश-कल्प की चौथी अवस्था वह है जिसमे मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ। सन् १८०९ मे ही लामार्क ने इस बात का आभास दिया था कि मनुष्य का विकाश प्राकृतिक-विधान परंपरा के अनुसार वनमानुसो से ही मानना पड़ता है। इसके पीछे हक्सले ने इस सिद्धांत का समर्थन अंग-विच्छेद-शास्त्र, गर्भविज्ञान, और भूगर्भस्थ-पंजरपरीक्षा द्वारा किया। अंत में डारविन ने सन् १८७१ में अपने "मनुष्य की उत्पत्ति" नामक ग्रंथ में इसे अनेक प्रकार से सिद्ध कर दिखाया। मैंने भी १८६६ मे विविध जंतुओ के अंगविधान पर जो पुस्तक लिखी थी उसमे विकाश-सिद्धांत पर एक प्रकरण दिया था। सन् १८७४ मे अपने मानवोत्पत्ति नामक ग्रंथ में मैंने पहले पहल मूल (एक घटक) अणुजीव मोनरा से लेकर मनुष्य पर्य्यन्त उत्पत्ति-परपरा का क्रम मिलाया। मैंने दिखलाया कि किस प्रकार एक मूल अणुजीव से अनेक प्रकार के जीव क्रमशः उत्पन्न होते गए हैं और मनुष्य का भी इसी परंपरा के अनुसार विकाश हुआ है। अस्तु मनुष्य का भी सब से आदिम मूल पूर्वज मोनरा के ऐसा कोई सूक्ष्म अणुजीव रहा होगा।

चौथा प्रकरण

प्रकृति की अद्वैत सत्ता

परमतत्त्व के नियम द्वारा सिद्ध होनेवाली सब से बड़ी बात यह है कि एक प्रकार की प्राकृतिक शक्ति परिणाम द्वारा दूसरे प्रकार की प्राकृतिक शक्ति का रूप धारण कर सकती है। शब्द और ताप, प्रकाश और विद्युत् आदि शक्तियां एक दूसरे के रूप में परिवर्तित की जा सकती हैं। वे एक ही मूलशक्ति के भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं। इस प्रकार सब प्राकृतिक शक्तियो की मौलिक एकता वा अद्वैतता सिद्ध होती है। यह सिद्धांत भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र मे, जहाँ तक उनका संबंध जड़ पदार्थों से है, सर्वस्वीकृत है।

पर सजीव सृष्टि के संबंध में यह बात नहीं है। शरीर के बहुत से व्यापारों का तो भौतिक और रासायनिक शक्ति के द्वारा, प्रकाश और विद्युत् के प्रभाव से, होना प्रत्यक्षरूप से बतलाया जा सकता है। ये व्यापार भौतिक और रासायनिक कारणों से होते हैं इसमे किसी को कोई संदेह नही। पर कुछ व्यापार ऐसे हैं, विशेष कर मनोव्यापार और चेतना, जिनके यदि भौतिक और रासायनिक कारण बतलाए जाते हैं तो लोग विरोध करते हैं। विरोध भी ऐसा वैसा नहीं, बड़ा गहरा। पर आधुनिक विकाशसिद्धांत ने सिद्ध कर दिया है कि इन दोनों कोटि के व्यापारो मे जो भेद

प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं है। अब यह निश्चित हो गया है कि शरीर के समस्त व्यापार-क्या चलना फिरना, क्या सोचना विचारना—उसी प्रकार भौतिक नियमों के वशवर्त्ती हैं जिस प्रकार जड़ पदार्थों के व्यापार।

इस प्रकार प्रकृति की अद्वैतता सिद्ध हो गई है और द्वैतभाव का खंडन हो गया है। 'जगत् की मूल अद्वैतता', जड़ सृष्टि और चेतन सृष्टि की वास्तविक अभिन्नता, उनके व्यापारो का द्रव्य और गतिशक्ति के विविध रूपो मे अंतर्भाव दिखा कर अपने कई ग्रंथो मे मै सिद्ध कर चुका हूं। अधिकांश वैज्ञानिको ने इसे स्वीकार कर लिया है, पर कई तरफ से इसके विरोध का भी प्रयत्न किया गया है और सृष्टि के इन दोनो विभागो (जड़ और चेतन) में तत्वभेद सिद्ध करने की प्रवृत्ति दिखाई गई है। इस द्वैतभाव के बड़े भारी समर्थको मे से उद्भिद्वेत्ता रेन्के है जिसने कहा है कि—"जड़सृष्टि मे तो केवल भौतिक और रासायनिक शक्तियो ही के द्वारा सब व्यापार होते है पर सजीव सृष्टि मे चेतन शक्तियां कार्य करती हैं।" उनके अनुसार जड़ सृष्टि द्रव्य और भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन है पर चेतन सृष्टि नहीं। इस कथन पर विचार करने के पहले दूसरे दो सिद्धांतो का उल्लेख कर देना चाहिए जो वैज्ञानिको ने सजीव-सृष्टि के संबंध मे स्थिर किए हैं—अंगारक (कारबन) सिद्धांत और स्वतः-उत्पत्ति का सिद्धांत।

शारीरिक रसायन ने अनेक विश्लेषणो के उपरांत ये पाँच बाते स्थिर की हैं—

(१) सजीव पिंडो में वेही मूल द्रव्य पाए जाते हैं जो जड़ सृष्टि में।

(२) मूलद्रव्यो के जिन मिश्रणो से सजीव पिंड बनते हैं और जिनके कारण अनेक प्रकार के सजीव व्यापार—होते हैं वे शरीरधातुओ के कललरसरूप यौगिक द्रव्य हैं।

(३) शरीरव्यापार एक भौतिक और रासायनिक क्रिया है जो इन कललधातुओ के द्रव्यों के गुण परिमाण के आधार पर होती हैं।

(४) अंगारक या कारबन ही वह मूल द्रव्य है जिसमें कुछ और मूलद्रव्यों (अम्लजन, उदजन, नत्रजन और गंधक) के विशेष मात्रा मे मिश्रित होने से ये यौगिक कललधातुएँ बनती हैं।

(५) अंगारक या कारबन से बनी हुई इन यौगिक कललधातुओ में और दूसरे यौगिक (मूलद्रव्यो के रासायनिक संयोग से बने) द्रव्यो से यह विशेषता होती है कि इनके अणुओ का मेल अत्यत जटिल होता है और ये अस्थिर तथा मधु की तरह गाढ़े रस की तरह होते हैं।

इन पाँच बातो के आधार पर अगारक सिद्धांत की प्रतिष्ठा हुई जो इस प्रकार है—"अंगारक (कारबन) से अत्यंत जटिल मिश्रण के द्वारा बनी हुई इन यौगिक कललधातुओ के द्रवत्व और विश्लेषणशीलत्व आदि गुणही उन विशिष्ट गतियो के एक मात्र कारण हैं जो जीवधारियो मे देखी जाती हैं।" इस अंगारक सिद्धांत का कहीं कहीं विरोध तो किया गया पर इससे अधिक उपयुक्त कोई और सिद्धांत स्थिर नहीं हुआ।

इधर मूल घटकों के जीवन व्यापार का जो अधिक अन्वीक्षण किया गया और कललरस की रासायनिक और भौतिक विशेषताओं का जो पता लगा उससे इस सिद्धांत का समर्थन अच्छी तरह हुआ है।

अब स्वतः उत्पत्ति * को लीजिए। 'स्वतः उत्पत्ति' से लोग कई अर्थ लेते हैं, इससे उसके संबंध में बहुत झगड़ा है। अतः, इसका अर्थ विशिष्ट और स्पष्ट होजाना चाहिए। 'स्वतः-उत्पति' से अभिप्राय है जीवसृष्टि के आदि में जड़ अंगारक द्रव्यों से सजीव कललरस का प्रथम प्रादुर्भाव। जीवसृष्टि के इस आरंभ की दो अवस्थाएँ कही जा सकती हैं—(१) अगारक-घटित द्रव्यों से कललरस की योजना और (२) कललरस का अलग अलग आदिम अणुजीवों मे विभाग। इस प्रकार का स्वयंभूतवाद विकाशसिद्धांत के अनुसार अवश्य मानना पड़ता है, और वैज्ञानिको ने माना भी है। इसे न मानना जीवोत्पत्ति को 'ईश्वर की लीला' या 'खुदा की करामात' मानना है।

स्वत' उत्पत्ति मान लेने पर फिर यह मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि सृष्टि की रचना किसी उद्देश्य रखने वाले ने अपने उद्देश्य के अनुसार की है। जगत् या प्रकृति से भिन्न कोई उद्देश्य रखनेवाला है इस द्वैतभाव की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। डारविन ने अपने 'प्राकृतिक ग्रहण-सिद्धांत' का एक ऐसा सूत्र हमारे हाथ में दे दिया है जिस-

* Abiogenesis वह, उत्पत्ति जो जनक पिंड से छूटकर पृथक् होनेवाले अंश की वृद्धि द्वारा न हो (जैसा कि समस्त प्राणियों में होता है) जड़ द्रव्य से आप से आप हो।

के सहारे हम चेतन सृष्टि में जो अनेक प्रकार की क्रम-व्यवस्था दिखाई पड़ती है उसके भौतिक और प्राकृतिक हेतु निरूपित कर सकते हैं। अब किसी उद्देश्य रखनेवाली अप्राकृतिक शक्ति को मानने की ज़रूरत बाक़ी नहीं है। फिर भी कुछ लोग उसे अब तक मानते चले जाते है। तत्वज्ञवर कांट ने उपादान कारण और निमित्त कारण में जैसा गूढ़ भेद किया है वैसा और किसी दार्शनिक ने नहीं। इसी भेद के अनुसार-उसने जगद्विधान की व्याख्या की है। जगत् के संपूर्ण विस्तार-जाल की व्याख्या उसने न्यूटन के निर्द्धारित भौतिक नियमों के अनुसार की है। उसका ज्योतिष्क-नीहारिका-सिद्धांत न्यूटन के आकर्षण सिद्धांत पर स्थित है। फरासीसी ज्योतिषी लाप्लेस ने कांट के सिद्धांत की पुष्टि गणित की रीति से की। फ्रांस के बादशाह ने उससे पूछा कि "आपने अपने सृष्टि-निरूपण मे सृष्टि के कर्त्ता और पालक ईश्वर को कहाँ स्थान दिया है ?" उसने बड़ी सच्चाई के साथ जबाब दिया कि "महाराज, अपने निरूपण मे मुझे उसके मानने की ज़रूरत नहीं पड़ी है।" अत, जगदुत्पत्ति-विज्ञान मे भी और दूसरे जड़पदार्थसंबधी विज्ञानो के समान ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। उसकी भी वैज्ञानिक व्याख्या भौतिक नियमो के अनुसार हुई है।

आप से आप होनेवाले भौतिक विधानों के द्वारा ही हम प्राकृतिक व्यापारों के यथार्थ कारणो (समवायि कारणो) का निरूपण कर सकते हैं और यह बतला सकते हैं कि सब व्यापार द्रव्य की अचेतन और अंध प्रवृत्तियो के द्वारा होते हैं।

कांट ने भी एक जगह साफ कहा है कि 'भूतों के इस स्वतःप्रेरित विधान की व्याख्या के विना कोई विज्ञान विज्ञान नहीं कहा जा सकता। मनुष्य बुद्धि में व्यापारों के भौतिक हेतु निरूपित करने की अपार सामर्थ्य है।' पर पीछे जब कांट सजीव सृष्टि के जटिल व्यापारो की ओर आया तव उसने कह दिया कि भौतिक हेतु पर्य्याप्त नहीं है, इन व्यापारो की व्याख्या के लिए हमे निमित्त कारणों का सहारा लेना पड़ता है और यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि ये व्यापार किसी उद्देश्य रखनेवाली विधायिनी शक्ति की प्रेरणा से होते हैं। बुद्धि की भौतिक-हेतुनिरूपण की शक्ति यहाँ परिमित हो जाती है। जीवधारियों के विविध व्यापारो की व्याख्या करने मे कुछ दूर तक तो वह चलती है पर वहुत से व्यापार—विशेषतः मानसिक—ऐसे हैं जिनके लिए हमें निमित्त कारणो का आरोप करना पड़ता है—यह मानना पड़ता है कि वे व्यापार उद्देश्य रखनेवाली स्वतत्र शक्ति के द्वारा होते है। किसी पदार्थ के प्राकृतिक उद्देश्य का समझने के लिए स्वयभू भौतिक विधान को उद्दिष्ट विधान के अधीन मानना पड़ता है, काट ने अत मे यही प्रतिपादन किया। जीवधारियो के विलक्षण कौशल के साथ वने हुए अवयवों और उनके व्यापारो की व्यवस्था को देख कांट को उनका शुद्ध और भौतिक हेतु निरूपित करना असभव प्रतीत हुआ। उसने कहा—"शुद्ध भौतिक और प्राकृतिक सिद्धातो के आधार पर ही किसी सजीव पिंड और उसकी अंतर्वृत्ति (अंतःकरण-व्यापार) का वास्तविक तत्व समझाना तो दूर रहा, समाधान पूर्वक समझना भी कठिन है।

किसी मनुष्य की यह आशा दुराशा मात्र है कि प्राणिविज्ञान मे भी कोई न्यूटन पैदा होगा जो एक क्षुद्र तृण तक की उत्पात्ति को जड़ प्रकृति का ही कार्य्य सिद्ध कर देगा, जो यह प्रमाणित कर देगा कि भिन्न भिन्न जीवो की रचना एक सोचे समझे हुए ढाँचे के अनुसार नहीं बल्कि आप से आप भौतिक नियमो के अनुसार होती है।" बतलाने की जरूरत नहीं, कांट के सत्तर वर्ष पीछे डारविन के रूप मे 'सजीवसृष्टि विज्ञान का न्यूटन' पैदा हुआ और उसने उस बात को कर दिखाया जिसे कांट ने असंभव बतलाया था।

जब से न्यूटन ने आकर्षण सिद्धांत का प्रतिपादन किया और कांट, लाप्लेस आदि ने जगत् की योजना और उत्पात्ति को स्वतः क्रियमाण भूतो का विधान सिद्ध कर दिया तब से जड़सृष्टिसंबधी समस्त विज्ञान शुद्ध भौतिक हो गए, उनमे ईश्वर या भूतातीत शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रह गई। ज्योतिष, जगदुत्पात्ति शास्त्र, भूगर्भशास्त्र, पदार्थविज्ञान रसायन इत्यादि सब में व्यापारो की व्याख्या नपे तुले भौतिक नियमों के अनुसार होती है। किसी व्यापार को ईश्वरकृत कह देने की चाल अब उनमे नहीं है। जड़सृष्टि मे जो कुछ दिखाई पडता है वह किसी की इच्छानुरूप रचना है ऐसा इन विज्ञानो मे कहीं नहीं प्रतिपादित किया जाता। 'इच्छानुरूप रचना' का भाव ही जड़सृष्टिसंबंधी विज्ञान के क्षेत्र से उठ गया। अब कोई वैज्ञानिक इस बात की जिज्ञासा करने नहीं जाता कि अमुक व्यापार जो जड़सृष्टि में देखा जाता है उसका 'उद्देश्य' क्या है। अब कोई वैज्ञानिक यह विश्वास नहीं रखता कि ईश्वर या किसी

उद्देश्य रखनेवाली शक्ति ने कभी किसी समय सृष्टि का सारा ढाँचा सोच कर जगत् का विधान करनेवाले नियमों की सृष्टि की थी और उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार बराबर चला रहा है। इस प्रकार के पुरुप विशेष या कर्त्ता के स्थान पर अब "प्रकृति के अखंड और शाश्वत नियम" ही माने जाते हैं।

पर सजीवसृष्टि को देखकर "किसी की इच्छानुरूप रचना" का भ्रम अवश्य होता है। जीवधारियो के शरीर की बनावट और अंगव्यापारों को देखने से यह प्रतीत अवश्य होता है कि उनकी रचना सोचे विचारे हुए उद्देश्य के अनुसार हुई है। जंतुओं और पेड़पौधो के अवयव उसी प्रकार बैठाए हुए पाए जाते है जिस प्रकार किसी मनुष्य की बनाई हुई कलके पुरजे बैठाए हुए होते हैं। जीवित अवस्था मे इन अवयवो के व्यापारो से विशेष उद्देश्यों की पूर्ति उसी प्रकार होती दिखाई पड़ती है जिस प्रकार कल के बनाए हुए पुरजो की चाल से। अत ज्ञान की प्रारंभिक अवस्था मे यही ख्याल हो सकता था कि सृष्टि का कोई पूर्णज्ञानमय कर्त्ता है जिसने प्रत्येक पेड़ पौधे और जीवजतु के ढाँचे को खूब सोच समझ कर चतुराई के साथ बनाया है। पहले तो इस सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्त्ता की भावना पुरुषविशेष के रूप मे थी। जब तक वह नराकार समझा जाता था—आंखो से देखनेवाला, कानों से सुननेवाला, हाथो से करनेवाला माना जाता था—तब तक तो उसका स्वरूप थोड़ा बहुत ध्यान मे आ भी जाता था। पर पीछे जब बुद्धिमान् बननेवाले लोगो ने उसको निराकार बताया और वे "बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि

नाना" कहने लगे तब तो उसका ध्यान मे आना ही असंभव हो गया। वैज्ञानिकों ने इधर यह चाल पकड़ी कि वे पुरुष विशेष के स्थान पर एक 'शक्ति विशेष' कहने लगे। शरीरव्यापारविज्ञान में बहुत से लोगो ने चेतन सर्वशक्तिमान् कर्त्ता के स्थान पर एक अचेतन विधायिनी शक्ति का आरोप किया जो भौतिक गतिशक्ति से भिन्न और परे होने पर भी उसे अपने अधीन कार्य्य मे नियोजित करती है। शरीरव्यापारविज्ञान में यह 'शक्तिवाद' बहुत दिनों तक चलता रहा। सन् १८३३ मे मूलर ने इस 'शक्तिवाद' की जड़ हिलाई। उसने अनेक प्रकार की परीक्षाओ द्वारा प्रमाणित किया कि मनुष्य (तथा और जीवों) के शरीर के अधिकतर व्यापार भौतिक और रासायनिक नियमो के अनुसार होते है और उनमे बहुत से तो ऐसे है जिनके विषय मे यह बतलाया जा सकता है कि वे किस हिसाब से होते है। उसने रक्तसचालन, पाचन, और खाए हुए द्रव्य के शरीर की धातु मे परिणत होने की प्रक्रिया से लेकर संवेदनसूत्रो (जिनसे शरीर मे संवेदना होती है) और पेशियो (जिनसे अंगो मे गति होती है) की गति तक को भौतिक और रासायनिक क्रियाविधान सिद्ध कर दिया। प्रजनन और मानसिक व्यापार (विचार, चिंतन आदि) ये ही दो बाते ऐसी रह गई जिनका समाधान बिना कोई शक्ति विशेष माने शुद्ध भौतिक कारणो के द्वारा न हो सका। पर मूलर की मृत्यु के उपरांत ही डारविन का प्रसिद्ध ग्रंथ प्रकाशित हुआ जिसमे ग्रहणसिद्धांत के द्वारा यह दिखला दिया गया कि शरीरयोजना में जो व्यवस्थाक्रम दिखाई

पड़ता है वह भौतिक कारणो ही से उत्पन्न होता है। डारविन ने अपने ग्रहण-सिद्धांत द्वारा भिन्न भिन्न ढाँचे के जीवो के बनने का प्राकृतिक विधान और कारण समझा दिया। उसने प्रतिपादित किया कि 'जीवन-प्रयत्न' ही ऐसी मूल वृत्ति है जिसके अधीन एक ढाँचे के शरीर से दूसरे ढाँचे के शरीर का क्रमशः विकाश होता है। जिस स्थिति या अवस्था के बीच जीव रहते है वह परिवर्त्तनशील होती है। चारो ओर की स्थिति के बदलने से कुछ जीवो मे कुछ अवयवो की विशेषताएँ उत्पन्न होती है जो उस परिवर्तित स्थिति के उपयुक्त होती है। फिर उन जीवो की जो संतति होती है उसमे भी वेही विशेषताएँ रहती हैं। इस प्रकार नए ढाँचे के जंतुओ का विकाश होता है जो अपने पूर्वज जंतुओ से भिन्न होते है। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार एक सादे ढाँचे के मूल अणुजीव से भिन्न भिन्न ढाँचो के जीव क्रमशः उत्पन्न हुए है। अतः क्रिया के अनुकूल ढाँचे बिना किसी उद्देश्य रखनेवाले के केवल भूतों की जड़क्रिया से किस प्रकार उत्पन्न हो सकते है लोग जो यह पूछा करते थे उसका उत्तर मिल गया। अब तो जीवो के अत्यत जटिल और सूक्ष्म विधानो की व्याख्या "व्यापार के अनुकूल शरीर की आप से आप उत्पत्ति" मानकर की जाती है। अब भूतो से परे किसी उद्देष्टा या विधायिनी शक्ति को मानने की आवश्यकता नही है।

पर इधर कुछ दिनो से भूतातीत 'विधायिनी शक्ति' का भूत फिर कुछ लोगो के सिर पर सवार हुआ है। कई एक जीवविज्ञानियों ने उसकी चर्चा नए ढंग से चलाई है। बुद्धि-

ढ्रेत्ता रेनके ने इस विषय मे विशेप प्रयत्न किया है। उसने सजीव सृष्टि के विधान को प्रेरणा करनेवाली एक शक्ति का कार्य्य वतलाया है और पौराणिक (वाइविल की) सृष्टिकथा आदि के मंडन की चेष्टा की है। दूसरे नए शक्तिवादियों ने एक पुरुप विशेप वा कर्त्ता माना है जिसने सव जीवधारियों को उनके जीवनव्यापार के अनुकूल शरीर के ढाँचे सोच समझ कर प्रदान किए हैं। पर ऐसी वातो पर वैज्ञानिक लोग अव ध्यान नहीं देते।

जीवों के ढाँचों को किसी पूर्णज्ञानमय सर्वज्ञ कर्त्ता ने अपनी इच्छा के अनुसार सव वातो को सोच कर वनाया है इसका कोई प्रमाण भिन्न भिन्न जीवो के शरीरनिरीक्षण से नहीं मिलता है। भिन्न भिन्न जीवो के शरीर का यदि निरीक्षण किया जाय तो प्राय सव मे कुछ न कुछ ऐसे फालतू अवयव मिलेगे जिनका कोई काम नहीं और जिनसे कभी कभी वड़ी हानि पहुँच जाती है। वहुत से पौधों के फूलों मे स्त्री० पुं० केसरो के अतिरिक्त जिनसे गर्भाधान होता है वहुत से ऐसे दल होते हैं जिनका कोई प्रयोजन नहीं। उड़नेवाले फतिंगो और पक्षियों में वहुत से ऐसे होते हैं जिनके पर वेकाम होते हैं, जो उड़ नहीं सकते। वहुत स ऐसे जंतु होते हैं जो अँधेरे मे रहते हैं, जिन्हें आँखे तो होती हैं पर वे देखने के काम की नहीं होती, निरर्थक होती हैं। मनुष्य के शरीर में वहुत से अवयव ऐसे हैं जो निरर्थक हैं—जो मूल पूर्वज अवस्था के अवशिष्ट चिह्न मात्र हैं। कान की मांसपेशियाँ, पुरुषो के चुचुक (स्तनचिह्न) आदि इसी प्रकार के अवयव हैं। वंद वड़ी आँत निरर्थक ही

नहीं भयंकर भी हैं। इसकी सूजन से प्रतिवर्ष न जाने कितने मनुष्य मरते हैं। *

इन निरर्थक विधानों का आधुनिक शक्तिवाद कोई हेतु नहीं दे सकता, पर विकाशद्वारा उत्पत्तिक्रिया का जो सिद्धांत है उसकी दृष्टि से विचार करने पर इनके रहने का कारण सहज में समझ में आ जाता है। विकाश की दृष्टि से यदि देखा जाय तो पता लग जाता है कि ये अवयव प्रयोग के अभाव से क्षीण और बेकाम होगए हैं। जिस प्रकार हमारी इन्द्रियाँ, पेशियाँ ओर नाड़ियाँ इत्यादि अधिक प्रयोग के द्वारा सबल और पुष्ट होती हैं उसी प्रकार व्यवहार में न आने या कम आने से वे विकल और बेकाम होजाती है। प्रयोग के अभाव से अवयव क्षीण और बेकाम तो होजाते हैं पर उनके चिह्न एकबारगी नहीं मिट जाते, वंशपरंपरा के नियमानुसार वे बहुत पीढ़ियो तक बने रहते हैं—धीरे धीरे बहुत काल बीतने पर वें लुप्त होते हैं। भिन्न भिन्न अवयवो के बीच भी स्थिति के लिए जो अधप्रयत्न चलता रहता है उसी के अनुसार कुछ अवयवो की वृद्धि और कुछ का ह्रास आप से आप होता है। इसमे किसी उद्देश्य रखनेवाले का कोई और भीतरी मतलब नहीं हैं।

जिस प्रकार मनुष्य के शरीरविधान मे कुछ अपूर्णता रहती है उसी प्रकार और जंतुओं और पौधो के शरीरविधान

---

* इस बद आँत को योरप में अब कुछ लोग निकलवा दते हैं और कष्ट तथा प्राणभय से बच जाते हैं।

मे भी पाई जाती है। बात यह है कि प्रकृति नित्य परिणामी है—वह सदा परिणाम की अवस्था मे रहती है, उसमे बराबर फेरफार होता रहता है। जहाँ तक हमारे इस भूग्रह की सजीव-सृष्टि को देखने से पता लगता है विकाश की गति द्वारा सजीव पिंड सादे से जटिल, क्षुद्र से उन्नत और अपूर्ण से पूर्ण होते रहते हैं। पूर्णताप्राप्ति का यह विधान प्राकृतिक ग्रहणवृत्ति द्वारा होता है, किसी सोची समझी हुई युक्ति के अनुसार नही। इसका प्रमाण यह है कि कोई सजीव पिंड सर्वांग पूर्ण नही रहता है। यदि किसी समय वह स्थिति के सर्वथा अनुकूल घटित होकर पूर्णता प्राप्त भी करता है तो भी यह पूर्णता बहुत काल तक नही चलती, क्योकि स्थिति मे बराबर परिवर्त्तन होता रहता है। सन् १८७६ मे प्रसिद्ध जीवविज्ञानी वेयर ने उद्देश्यवाद का जो नए ढंग से समर्थन किया वह शक्तिवादियो और दैववादियो को बहुत भाया, उसकी बातो को लेकर अब तक लोग उछला कूदा करते हैं। यद्यपि वेयर अत्यंत उच्च कोटि का विज्ञानवेत्ता था पर ज्यो ज्यो वह बुड्ढा होने लगा उसके तात्विक विचार क्षीण होने लगे यहाँ तक कि अंत मे वह पूरा द्वैतवादी (शरीर और आत्मा, द्रव्य और शक्ति को परस्पर भिन्न माननेवाला) होगया। गर्भांड के वृद्धिक्रम का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसने उन उत्तरोत्तर होनेवाले परिवर्त्तनो को दिखलाया जिनसे वह अंडे से रीढ़वाले जीव के रूप मे आता है। उसने उन परिवर्त्तनों के कारणो और नियमो का भी पता लगाया और यह सिद्धांत स्थिर किया कि व्यक्ति के विकाश का जो यह क्रम है वही

व्यक्तित्व मात्र के विकाश का क्रम है। इस सिद्धांत से उसने यह तत्व निकाला कि "वह परमभाव जिसके अनुसार अनेक रूपो मे जंतुओं का विकाश होता है वही है जिसके अनुसार अतंरिक्ष के विकीर्ण खंड लोकपिडो के रूप मे बने और सौर-ब्रह्मांड का विधान हुआ। वह परमभाव ही जीवन है। विविध प्रकार के जीव ही वे वर्ण और शब्द हैं जिनमे वह परमभाव व्यक्त होता है। वयेर का यह उद्देश्यरूप परमभाव प्लेटो * और अरस्तू के 'नित्यभाव' की पुनरुक्ति मात्र है।

वतलाने की आवश्यकता नहीं कि वेयर ने सृष्टि के उत्पात्तिक्रम के एक ही अंग पर दृष्टि डाली थी, उसने गर्भ से लेकर एक एक जीव के उत्पात्तिक्रम का ही विचार किया था। इसी क्रम से जीवो की भिन्न भिन्न योनियो और जातियों की भी उत्पात्ति हुई है यह वात उसे नहीं सूझी थी यद्यपि सन् १८०९

---

* प्लटो या अफलातून ईसा से ३०० वर्ष पहले यूनान में हुआ है। उसने कहा है कि समस्त जगत् एक परमभाव या सवित् (Idea) के अनुसार चल रहा है। सामान्य प्रत्ययों को लेकर विचार करने से मनुष्य सवित या परमभाव तक पहुँच सकता है। ससार मे बहुत से लोग वीर आदि हैं पर उन सब में जो वीरता आदि सामान्य धर्म हैं, जिनके द्वारा कौन कितना वीर है हम यह समझते हैं वे ही वीरता के 'भाव' या वास्तव स्वरूप है, उन्हीं के नमूने पर सब वीर, उदार आदि बने है। वीरता, उदारता आदि के ये स्वरूप या 'भाव' केवल मनुष्यों के मन में ही हैं, ऐसा नहीं है। ये स्वयंभू और सनातन हैं, इनकी स्थिति किसी के अधीन या आश्रित नहीं है।

मे ही लामार्क ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था। अतः जब सन् १८५९ में डारविन ने इसे सिद्धांतरूप मे प्रकट किया और अपने ग्रहणसिद्धांत की स्थापना की तब वेयर इसे स्वीकार न कर सका। वह इसका विरोध ही करता रहा। जीवोत्पत्ति की यह बात वेयर की समझ मे न आई कि गर्भावस्था से लेकर जिस क्रम से किसी एक जीव (व्यक्ति) का उत्तरोत्तर विकाश होता है उसी क्रम से आदिम अणुजीवो से भिन्न भिन्न जीववर्गों का भी विकाश हुआ है।

इतिहास के क्षेत्र मे न्यायपूर्ण दैवी विधान दिखाने की चाल बहुत अधिक है। इतिहासलेखक किसी देश के निवासियो के अभ्युदय, पतन, वृद्धि, दुर्दशा इत्यादि को ईश्वर की न्यायव्यवस्था के अनुसार बतलाने का प्रयत्न करते है। वे यह दिखाना चाहते हैं कि एक जाति जो दूसरी जाति के ऊपर विजयी हो कर शासन करती है उसमें पूर्णज्ञानमय ईश्वर का कुछ परम उद्देश्य रहता है। जड सृष्टि के संबंध में तो 'न्यायपूर्ण व्यवस्था' की बात नहीं उठती। अब रहा जीवविज्ञान, उसमें भी यदि हम मनुष्य को थोडी देर के लिये छोड़ दें तो कहीं इस प्रकार की व्यवस्था नहीं दिखाई पडती जो चैतन्य रूप ईश्वर की कृति कही जा सके। डारविन ने अपने प्राकृतिक ग्रहण सिद्धांत द्वारा यह अच्छी तरह दिखा दिया है कि जंतुओ और पौधों की शरीररचना और जीवनवृत्ति मे जो व्यवस्थित विधान दिखाई पड़ता है वह भौतिक नियमों के अनुसार उत्पन्न हुआ है, किसी पहले से सोची समझी हुई युक्ति के अनुसार नहीं। उसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि 'जीवन-प्रयत्न'

ही वह प्रवल प्राकृतिक शक्ति है जिसके वशवर्त्ती हो कर भिन्न भिन्न जीवो का विकाश और स्थितिविधान हुआ है। 'जीवन प्रयत्न' का अर्थ यह है कि जीवो के बीच स्थिति के लिए जो घोर समर चलता रहता है उसमे वे ही जीव विजयी होते या रह जाते है जो सव से अधिक योग्य या श्रेष्ठ होते हैं। सव से अधिक योग्य या श्रेष्ठ वे ही है जो सव से अधिक वलवान् होते है। प्रकृति मे यही नीति और यही न्याय है।

मनुष्य जातियो के इतिहास मे भी हम कोई दूसरी वात नही पाते। उसमे भी हमे कही शील के उन्नत आदर्श का अथवा न्यायकारी, दयालु परमेश्वर का पता नही लगता। हम बराबर यह नही देखते कि जो जातियॉ वहुत ही शीलवान्, सीधी सादी रही है वे ही समृद्ध और विजयी हुई है। इतिहासो से वरावर यही पाया जाता है जिन जातियो ने जितना ही अधिक जीवनप्रयत्न किया है, स्थिति और उन्नति के लिए वे जितना ही अधिक अग्रसर हुई है उतना ही उनके भाग्य का उदय हुआ है। उसी 'जीवनप्रयत्न' के द्वारा उनके भाग्य का भी निवटेरा हुआ है जिसके अनुसार समस्त सजीव सृष्टि मे स्थिति और विनाश का क्रम करोड़ो वर्षों से चला आ रहा है।

भूगर्भवेत्ता सजीवसृष्टि के इतिहास को भूगर्भस्थपंजरो की परीक्षा द्वारा तीन कल्पो मे विभक्त करते है-प्रथम द्वितीय, और तृतीय। उनकी गणना के अनुसार प्रथम कल्प लगभग ३४,०००,००० वर्षों का, द्वितीय ११,०००,००० वर्षों का और तृतीय ३•००,००० वर्षों का था। इन्ही तीन कल्पो के

बीच अस्थिवाले जीवों का प्रादुर्भाव और विकाश हुआ है। प्रथम कल्प में मछलियाँ हुई जो रीढ़वाले जीवो मे सब से निम्नश्रेणी की हैं। द्वितीय कल्प मे मछलियों से और उन्नत कूर्मज वा सरीसृप हुए (कछुए, मगर, घड़ियाल, छिपकली, साँप इत्यादि)। तृतीय कल्प मे दूध पिलानेवाले स्तन्य जीव हुए जो सब से उन्नत है। इन तीन प्रधान जीववर्गों के इतिहास को यदि ध्यान से देखा जाय तो पता लगेगा कि इनके अंतर्गत जीवो की जो अनेक शाखाएँ हुई वे भी क्रमशः अधिक पूर्णता को पहुँचती गई। उन्नति के इस क्रमागत विधान को क्या हम किसी चैतन्य का सोचा समझा हुआ कार्य्य—किसी सर्वशक्तिमान् कारीगर की रचना—कह सकते है? कभी नहीं। ग्रहण-सिद्धांत की सहायता से जब हम सृष्टि के बीच उस जीवनप्रयत्न को देखते हैं जिसके द्वारा सबल जीव निर्बलो को दबाकर या नष्ट करके अग्रसर हुए है और बराबर उन्नति करते गए है तब हम न्याय, नीति और शील की कोई व्यवस्था नहीं पाते। पाँच करोड़ वर्षों के बीच जंतुओ की न जाने कितनी सुन्दर सुन्दर जातियो का कुल नष्ट होगया और उनके स्थान पर वे ही जीव रह गए जो सबल निकले। उन सबल जीवो के विषय मे यह नहीं कहा जा सकता कि वे न्याय और शील मे बहुत बढ़ कर थे।

यही बात मनुष्य जातियो के संबंध मे भी ठीक है। उनके इतिहासो मे भी यही बात पाई जाती है। एशिया के पश्चिमी भागो मे—फ़ारस, अफग़ानिस्तान, तुर्किस्तान आदि देशो मे—इसलाम धर्म का जो प्रचार हुआ वह न्याय, नीति, और शील

के बल से नहीं। इन बातो का उन देशों मे भी अभाव नहीं था। अत्याचार और क्रूरता के बल से देखते देखते उन देशो से प्राचीन आर्य्यसभ्यता का, ज्ञान के संचित भडार का, लोप हो गया। ईश्वर की न्याय-नीति और दया कहीं देखने मे न आई। जिन असभ्य, दरिद्र और मरभूखी जातियो को आवश्यकतावश अधिक जीवन-प्रयत्न करना पड़ा वे अग्रसर हो गई।

एक एक मनुष्य के जीवन को लेकर यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करते हैं तो उसकी दशा भी मनुष्यजातियो की दशा के समान किसी चेतन शक्ति के अधीन नही जान पड़ती। उसकी गति का विधान भी भौतिक कार्यकारण-परंपरा के अनुसार होता है। मनुष्य के जीवन मे जो जो बाते होती है सब का संबंध कुछ पूर्ववर्त्ती कारणो से होता है। ये कारण प्रकृति की अंधपरंपरा के अनुसार ही खड़े होते रहते है— किसी सोची समझी हुई न्यायव्यवस्था के अनुसार नही। भावी प्रबल होती है, पर यह भावी कार्य्यकारण भाव के अतिरिक्त और कुछ नही। हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश किसी विधाता के हाथ मे नही है। विधाता और दयानिधान परमेश्वर तभी अधिक सूझता है जब किसी की कोई कामना पूरी होती है किसी अनर्थ से रक्षा होती है। जब कोई आपत्ति आती है, कोई प्यारा मनोरथ पूरा नहीं होता तब प्रायः मुँह से यही निकलता है—"ईश्वर न जाने कहाँ है ?:"। ईधर विज्ञान और व्यापार की जो अपूर्व वृद्धि हुई है उसके कारण प्रति वर्ष अनेक दुर्घटनाएँ होती रहती हैं—हजारो जाने रेल लड़ने से, पुल टूटने से, जहाज

डूबने से जाती हैं। सहस्रो निरपराध मनुष्यो के प्राण युद्ध में लिए जाते हैं, इतने पर भी ईश्वर के न्याय और नीति की चर्चा बराबर चली चलती है।

जगत् के विकाशक्रम का मनन करने से उसमे किसी विशेष उद्देश्य का पता नही लगता। प्रकृति के जितने व्यापार है सब कारण इकट्ठे होने से होते हैं। संसार मे जितनी बाते होती है सब संयोग से, किसी संकल्प के अनुसार नही। प्रकृति के गुण या अंधप्रवृत्ति के अनुसार जब जैसा संयोग उपस्थित होता है तब वैसी बात होती है। अत. विकाशवादियो के सिद्धांत पर लोग यह आक्षेप करते है कि उसमे सब बाते 'संयोग' के अधीन बतलाई जाती है। शक्तिवादियो की समझ मे यह नही आता कि सृष्टि का इतना बड़ा चरखा बिना किसी के सोच समझ कर चलाए कैसे चल रहा है। इसी बात को लेकर दार्शनिको के दो भिन्न दल हो गए है। द्वैतवादी दल अपनी भावना के अनुसार यही कहता जाता है कि संपूर्ण जगत् ज्ञानकृत व्यवस्था के अनुसार चल रहा है, छोटी से छोटी बात भी जो होती है उसका कोई न कोई उद्देश्य होता है, संयोग कोई चीज नही। हेतुवादियो * का दल कहता है कि जगत् का विकाश एक भौतिक या प्राकृतिक विधान है जिसमे कोई उद्देश्य या ज्ञानकृत व्यवस्था नहीं है। सजीव

---

* राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है। नीति, प्रतीति, प्रीति, परिमिति, पति हेतुवाद हठि हरि हई है।

—तुलसी दास।

सृष्टि मे जो व्यवस्था दिखाई पड़ती है वह शरीरद्रव्य की प्रवृत्तियों के योग का परिणाम है। न तो और लोकपिडो के विकाश मे न पृथ्वी के नाना तलों * के विकाश में किसी चैतन्य की कोई करतूत प्रकट होती है; सब बाते संयोग पाकर होती है। 'संयोग' शब्द का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। 'संयोग' पहले से निश्चित अदृष्ट व्यवस्था का नाम नही है—कारणों के समाहार का नाम है। सयोग से कोई बात हो गई इसका यह मतलब नहीं कि बिना कारण कोई बात हो गई। प्रकृति मे जो कुछ व्यापार होता है सब का भौतिक कारण होता है। यदि कहीं जाने पर कोई किसी आपदा मे पड़ता है तो लोग प्रायः कहते है कि 'संयोग उसे ले गया'। 'संयोग' नहीं ले गया, उसके जाने से ऐसा संयोग उपस्थित हुआ कि वह आपदा मे पड़ गया। 'संयोग' का अर्थ है कई भिन्न भिन्न बातो का भिन्न भिन्न कारणो से एक साथ घटित होना।

---

* पुराणों में पृथ्वी तल के तल, वितल, सुतल, रसातल आदि सात भाग किए गए है।

पांचवाँ प्रकरण

ईश्वर और जगत्

कई हजार वर्षों से मनुष्य जाति सृष्टि के समस्त व्यापारो का एक परम कारण मानती चली आ रही है जिसे ईश्वर कहते है। और सब सामान्य भावनाओ के समान ईश्वर-संबंधिनी भावना मे भी बुद्धि के विकाश के साथ साथ अनेक प्रकार के फेरफार होते आए हैं। सच पूछिए तो और किसी पदार्थ की भावना में समय समय पर इतने परिवर्त्तन नहीं हुए है। बात यह है कि बुद्धि और आन्वीक्षिकी विद्याओ के जितने मुख्य विषय है, कल्पना और मनोवेग के जितने आधार है सब का इसके साथ गहरा लगाव है। ईश्वर के संबध मे जितने प्रकार की भावनाएँ है उन सब को यदि परस्पर मिलान करके देखते हैं तो बहुत सी बाते प्रकट होती हैं। कई ऐसे उपयोगी ग्रथ लिखे भी जा चुके है जिनमे इस ढंग की आलोचना की गई है। पर यहाँ अधिक स्थान नहीं है। अनेक रूपो मे लोग ईश्वर की भावना करते है—कुछ लोग कहते है कि वह ऐसा है, कुछ लोग कहते हैं ऐसा नही ऐसा है। मुख्य मत दो है—देववाद और ब्रह्मवाद वा सर्वात्मवाद। देववाद द्वैत-वादियो का है और ब्रह्मवाद अद्वैतवादियो का।

देववाद।

देववादी ईश्वर को जगत् से भिन्न, उसका कर्त्ता और पालक मानते है। देववाद में ईश्वर एक 'पुरुष विशेष' माना

गया है जो मनुष्यो ही के समान सोचता, विचारता और काम करता है, अंतर इतना ही है कि उसके सोचने, विचारने और काम करने की कोई हद नही है। ईश्वर की यह नराकार भावना अनेक रूपो मे पाई जाती है। असभ्य जातियो के भूतप्रेत से लेकर सभ्य जातियो के एक ईश्वर तक सब इसी के अंतर्गत है। देववाद चार प्रकार का पाया जाता है। बहु-देववाद, त्रिदेववाद, द्विदेववाद और एकदेववाद।

बहुदेववादी बहुत से देवीदेवता मानते है और समझते है कि ससार मे जो कुछ होता है सब उन्ही के द्वारा। इसमे कोई जड प्रतीक लेते है कोई चेतन प्रतीक। जड प्रतीकवाले अग्नि, वायु, जल, पर्वत, नदी, मूर्ति इत्यादि निर्जीवपदार्थों मे देवताओ का आरोप करते हैं। चेतन प्रतीक वाले मनुष्य पशु आदि मे देवताओ की भावना करते हैं। हिंदुओ, यूनानियो तथा और और प्राचीन जातियो मे ये दोनों प्रकार के भाव विशद रूपो मे प्रकट किए गए। ईसाई आदि एकेश्वरवादी कहलाने वालो में भी बहुदेवाराधन किसी न किसी रूप मे पाया जाता है। कैथलिक ईसाई ईसा की माता मारियम तथा अनेक महा-त्माओ को मानते है और उनके अनुग्रह की प्रार्थना करते है।

त्रिदेववाद भी कई रूपो मे मिलता है। ईसाइयो का एक ईश्वर तीन रूपो मे व्यक्त किया गया है—(१) परमपिता ईश्वर जो सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्त्ता है। (२) तत्पुत्र ईसामसीह और (३) पवित्रात्मा। यह पवित्र आत्मा क्या बला है इसे समझने समझाने के लिए हजारों वर्ष से ईसाई धर्म्माचार्य्य सिर मारते चले आ रहे हैं। इस गोरखधंधे का आधार है बाइबिल, पर

उसमे कहीं यह स्पष्ट नही किया गया है कि यह पवित्रात्मा है क्या और इसका पिता पुत्र से संबंध क्या है। बात यह है कि यह देवत्रयी और अधिक प्राचीन धर्म्मों से ली गई है। मूसा के पहले जो प्राचीन यहूदी धर्म वाविलन के मगो की सूर्य्योपासना के आधार पर प्रचलित था उसमे सृष्टिकर्त्ता इलू की तीन रूपो मे भावना की गई थी 'अल्' जो शून्यरूप माना जाता था, 'वेल' जो ब्रह्मा या जगत् की रचना करनेवाला माना जाता था और 'आइ' जो दिव्य ज्योति वा ज्ञानस्वरूप माना जाता था। प्राचीन हिन्दू धर्म मे भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव यह त्रिमूर्ति बहुत बहुत काल पहले मानी गई थी। प्राचीन धर्म्मों मे यह तीन की सख्या विशेष रूप से ग्रहण की गई थी।

युग्मदेववादियों के अनुसार जगत् का सारा व्यापार सत्व और तमस् इन्ही दो देवताओ के आदेश पर चल रहा है। सात्त्विकदेव अच्छी बातो का प्रवर्त्तक है और तामसदेव बुरी बातो का। इन दोनो मे बराबर विरोध चलता रहता है। संसार की अवस्था इसी नित्य विरोध का परिणाम है। दयामय सात्त्विक देवता या भगवान् सुख, शान्ति और सौन्दर्य्य के मूल हैं। यदि उन्हीं की चलती तो यह संसार सुख और शान्ति का धाम होता, पर उनके कार्य्य मे तामस देवता या शैतान बराबर बाधा डालता रहता है। ससार मे जो अनेक प्रकार क क्लेश और अनर्थ हैं सब इसी शैतान की करतूत है। ईश्वर की इस दोरंगी भावना से संसार मे जो कुछ हो रहा है उसका बहुत कुछ समाधान हो जाता है। अतः ईसा-

से कई हज़ार वर्ष पहले सभ्यताप्राप्त प्राचीन जातियों मे यह युग्मदेववाद प्रचलित था। प्राचीन भारत मे सुर और असुर परस्पर विरोधी माने जाते थे। प्राचीन मिस्र मे रक्षक देवता ओसिरीज़ के कार्य्य का वाधक क्रूर देवता टाइफन माना जाता था। प्राचीन पारसियो के जंद धर्म का भी यही सिद्धांत था कि ज्योतिःस्वरूप अहुरमुज्द धर्म द्वारा संसार की रक्षा करता है और तमोमय अह्रमान अधर्म द्वारा उसके सुख और शान्ति का भंग करता है।

ईसाइयो की पौराणिक कथा मे भी शैतान का दर्जा खुदा से किसी बात में कम नही है। एक स्वर्ग का राजा है तो दूसरा नरक का। एक मे यदि भलाई की शक्ति है तो दूसरे मे बुराई की। एक अच्छे कर्म्मों की प्रेरणा करता है तो दूसरा बुरे कर्म करने के लिए वहकाता है। वतलाने की आवश्यकता नही कि इस शैतान की भावना बरावर पुरुष रूप मे होती चली आई है। इधर थोड़े दिनो से अपने धर्म को युक्तिसगत प्रकट करने के लिए लोग इसे रूपक कहकर उड़ाना चाहते है पर इसी का जोड़ा जो जमीन और आसमान बनानेवाला खुदा है उसका पल्ला कस कर पकड़े हुए हैं। पर ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि शैतान और खुदा की जोड़ी मानने से इस सुखदु:खात्मक जगत् की बातो का समाधान जितना सुगम है उतना और दूसरी कल्पना से नही।

साधारणत लोग एकेश्वरवाद को बहुत ठीक और युक्ति-सगत मत समझते है और उसे धर्म का एक प्रधान अंग मानते हैं। उनकी धारणा है कि सारे सभ्य देशो के लोग एकेश्वरवादी

हैं। पर यह बात नही है। जितने मत एकेश्वरवादी बन कर दूसरे मतो की निंदा किया करते हैं उनकी यदि परीक्षा की जाय तो उनमे भी एक सर्वोपरि देव (ईश्वर) के अतिरिक्त बहुत से उपदेव, गण, दूत, पारिषद इत्यादि के रूप मे पाए जाते हैं। क्या यहूदी, क्या ईसाई, क्या मुसलमान इन सब मतो मे आसमानी खुदा के सिवाय पैगंबर, फरिश्ते, शैतान इत्यादि भी माने जाते हैं। मोटे हिसाब से इस पृथ्वी पर डेढ़ अरब के लगभग मनुष्य बसते है, इनमे ६० करोड़ तो हिंदू और बौद्ध हैं, ५० करोड़ ईसाई कहलाते है, १८ करोड़ के लगभग इसलाम मत के मानने वाले है दस करोड यहूदी है, २० करोड़ दूसरे भिन्न भिन्न मत मानते है या भूतप्रेत आदि पूजते है, बाकी दस करोड ऐसे है जिनका कोई धर्म नहीं। इनमे जो एकेश्वरवादी ❀ होने का डंका पीटते है ईश्वर के संबंध मे उनकी भावना स्पष्ट नहीं है।

एकेश्वरवाद दो रूपो मे पाया जाता है—प्राकृतिक और पौरुषेय। प्राकृतिक एकेश्वरवाद ईश्वरीय विभूति का आरोप अपरिमित तेज और शक्ति के प्राकृतिक अधिष्ठानो मे करता है। कई हजार वर्ष पहले प्राचीन सभ्य जातियो ने उस सूर्य्य की उपासना चलाई जो अपार शक्ति और तेज का अधिष्ठान है, जिस पर समस्त सजीव सृष्टि अवलंबित है। वैज्ञानिको की दृष्टि मे सूर्य्योपासना से बढ़ कर उपयुक्त ईश्वरोपासना की

❀ एशिया के पश्चिमी भागों मे प्रवर्तित ईसाई, यहूदी आदि पैगंबरी मत।

और कोई विधि नहीं, क्योंकि वैज्ञानिक सिद्धांतों से उसका कोई विरोध नहीं पड़ता। आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान और भूगोलोत्पत्ति शास्त्रद्वारा यह निरूपित हो चुका है कि पृथ्वी सूर्य्य का ही एक खंड है जो उससे छूट कर अलग हुआ है और फिर उसी मे जाकर मिल जायगा। आधुनिक शरीरव्यापार-विज्ञान हमे यह बताता है कि सजीव सृष्टि का मूलतत्व कललरस है और इस कललरस की सृष्टि जल, अंगारक (कारबन), अमोनिया आदि निर्जीव द्रव्यो के सयोग विशेष से होती है जो सूर्य्य की ज्योति के प्रभाव से ही होता है। इसी कललरस से आदि मे रसात्मक अणूद्भिदो की सृष्टि हुई, फिर रसात्मक अणुजीवो की जिनका पोषण उन अणूद्भिदो के द्वारा होता है। इसी जीवोत्पत्ति परपरा के अनुसार अंत मे मनुष्य की भी उत्पत्ति हुई है। सच पूछिए तो हमारे समस्त जीवन-व्यापार सूर्य्य की ज्योति और ताप पर ही निर्भर है। अत. शुद्ध बुद्धि से यदि विवेचन किया जाय तो उन (ईसाई, मुसलमान आदि) एकेश्वरवादी मतो की उपासना की अपेक्षा जो ईश्वर की भावना पुरूषरूप मे करते है सूर्य्योपासना कही अधिक युक्तिसगत है। कहने की आवश्यकता नही कि इसी से हजारो वर्ष पूर्व सूर्य्योपासक जातियाँ (हिंदू, पारसी, मग इत्यादि) ज्ञान और सभ्यता की जिस सीमा तक पहुँची थी उस सीमा तक दूसरी जातियाँ नहीं।

अब दूसरी भावना ईश्वर के विषय मे यह है कि वह मनुष्य ही के समान सोचता, विचारता और कार्य्य करता है—भेद इतना ही है कि उसके सोचने, विचारने, कार्य्य

करने की कोई हद नहीं है। पुरुष या पुरुषोत्तम रूप मे ईश्वर की इस भावना का सभ्यता के इतिहास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। पर सब से विलक्षण और दुर्बोध रूप इस भावना को यहूदी, ईसाई, और इसलाम इन तीन पैगबरी मतो मे प्राप्त हुआ है। ये तीनो मत परस्पर संबद्ध हैं और एशिया के पश्चिमी किनारे पर इबरानी अनार्य्य जातियो के कुछ भावो-न्मत्त लोगो के द्वारा प्रवर्तित हुए है। इनमे प्राचीन यहूदी मत है जिससे ईसाई मत निकला। ईसाई मत के सिद्धातो को लेकर ही इसलाम धर्म की स्थापना हुई। जिस प्रकार ईसाई मत की पौराणिक कथाएँ मूसा के यहूदी धर्म से ली गई हैं उसी प्रकार मुसलमान मत की कथाएँ दोनो पूर्ववर्त्ती मतो से सगृहीत हुई हैं। उक्त तीनो मत पहले पहल एकेश्वरवाद को लेकर खड़े हुए पर ज्यों ज्यो उनका प्रसार बढ़ता गया त्यो त्यों उनमे बहुदेववाद आता गया।

जिस एकदेववाद को मूसा ने (ईसा से १६०० वर्ष पहले) चलाया और जिसमें एकमात्र 'यव्हा' की उपासना मानी गई वह बहुदेववाद ही से निकला था। 'यव्हा' उन अनेक देवताओ मे से एक का नामांतर है जिन्हे प्राचीन यहूदी पूजते थे। यह यव्हा आदि मे स्वर्ग का देवता माना जाता था जो और देवताओं ही के समान कठोर और क्रूर था और पूजा न पाने पर कड़ा दंड देता था। इस यव्हा के अतिरिक्त और भी अनेक देवता थे जिन्हे प्राचीन यहूदी पूजते थे पर मूसा के पीछे इसे प्रधानता प्राप्त होती गई और सिद्धांत रूप से यह यहूदियो का एक मात्र देवता कहा जाने

लगा। यद्यपि 'यव्हा' का यह वचन था कि—"मै ही तेरा एकमात्र प्रभु और ईश्वर हूँ, मेरे सिवा और किसी देवता को न मानना" पर और बाकी देवताओ का सत्कार बहुत दिनो तक बना रहा।

मूसाई धर्म से निकले हुए ईसाई धर्म की भी यही दशा हुई। यद्यपि सिद्धात रूप मे ईसाई धर्म एकेश्वरवादी ही था पर व्यवहार मे वह बहुदेववादी होगया। एकेश्वरवाद का त्याग तो एक प्रकार से तभी होगया जब पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा की देवत्रयी मानी गई। पर इस देवत्रयी के अतिरिक्त ईसा की माता मरियम की उपासना इतनी प्रबल पड़ी कि वह स्वर्ग की अधीश्वरी देवी मानी गई। कैथलिक सप्रदाय के ईसाइयो के बीच स्वर्ग की इस अधीश्वरी ने इतनी प्रधानता प्राप्त की कि देवत्रयी मद पड़ गई। यही तक नहीं। ईसाई भक्तो की भावुकता ने अनेक सन्तो और महात्माओ की मंडली बिठाकर स्वर्ग को और गुलजार कर दिया। पोप लोग इस मडली को बराबर बढ़ाते ही गए। गाने बजानेवाले फरिश्तों का जमावड़ा तो वहाँ पहले ही से था। इस प्रकार स्वर्ग में खुदा का एक खासा दरबार लग गया और उस दरबार मे 'ईसा के नायब' पोपो के द्वारा अर्जियाँ भी गुजरने लगी।

ईसाई धर्म के तत्वो को जानकर मुहम्मद ने ईसा से ६०० वर्ष बाद अपना नया एकेश्वरवादी मत इसलाम के नाम से चलाया। ईसाइयो के संसर्ग से ही मुहम्मद ने अपने देश-वासी मूर्तिपूजक अरबो को तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखना सीखा और उनके बीच अपने ज्ञान का आतंक जमाया।

उन्होंने ईसाई मत की मुख्य मुख्य बातो को तो ले लिया पर ईसा को परमेश्वर का पुत्र नहीं माना, मूसा के समान एक पैगंबर ही माना। देवत्रयी को भी उन्होने अपने मत में स्थान नही दिया। मरियम की उपासना को उन्होने मूर्तिपूजा ठहराया। सारांश यह कि अपने एकेश्वरवाद को जहाँ तक विशुद्ध रखते बना उन्होंने रक्खा। पर उनका ईश्वर भी नरस्वरूप या देवता-स्वरूप ही था। खुशामद सुनने और बदला लेने में वह मनुष्य के समान ही था। उसके यहाँ भी पूरी दरबारदारी होती थी।

भिन्न भिन्न मतों की ईश्वरसंबंधिनी जिन निर्दिष्ट भावनाओं का ऊपर विवेचन हुआ उन सब से अधिक प्रचार मिश्र भावना का है जिसमें कई प्रकार की, कभी कभी परस्पर विरुद्ध, भावनाओं का मेल रहता है। यद्यपि सिद्धांतरूप मे इस प्रकार का मिश्रित मत कोई स्वतंत्र मत नहीं स्वीकार किया गया है पर व्यवहार में सब से अधिक चलन इसी का देखा जाता है। मनुष्यों का अधिकांश इसी को मानने वाला है। अधिकतर लोगों की ईश्वर के संबंध मे जो भावना होती है वह कुछ अपने मत और संप्रदाय की भावना और कुछ दूसरे मतों और संप्रादायों की भावनाओं से मिल जुल कर बनी होती है। लड़कपन मे ही अपने मत या संप्रदाय की जो भावना प्राप्त होती है उसमे आगे चल कर दूसरे मतों और संप्रदायों के साथ संसर्ग होने से कुछ फेरफार हो जाता है। शिक्षित मनुष्यों मे दर्शन और विज्ञान के अध्ययन के प्रभाव से भी ईश्वरसंबंधिनी भावना में बहुत कुछ फेरफार

और रूपांतर हो जाता है। इस प्रकारके परस्पर विरुद्ध संस्कार मनमे जम कर आजीवन बने रहते हैं। बात यह है कि लड़कपनमे पुरानी कथा कहानियो का जो वंशपरंपरागत संस्कार होता है वह बड़ा प्रबल होता है, वह तो बना ही रहता है। पीछे शिक्षा तथा दूसरे मतोंके परिचय द्वारा जो भाव प्राप्त होते है वे भी पुराने भावों के साथ जा मिलते है। इस प्रकार लोगो का अंतःकरण 'भानमती का पिटारा' हो जाता है जिसमे ईश्वरविषयक रंग विरग की परस्पर असबद्ध और असगत भावनाएँ भरी रहती है।

ऊपर जितने प्रकारके देववादो (ईश्वरवादों) का जिक्र हुआ उन सब मे ईश्वर प्रकृति या भूतो से परे माना गया है। वह जगत् से भिन्न बाह्य और स्वतंत्र तथा उसका कर्ता और नियंता कहा जाता है। उसकी भावना पुरुषविशेष या देव-विशेष के रूप मे ही हुई है। वह मनुष्यो ही के समान सोचता विचारता, अनुभव करता तथा प्रसन्न और अप्रसन्न होता है। भेद इतना ही समझा गया है कि मनुष्य में सब बाते अपूर्णरूप मे होती है पर उसमे परम पूर्णता को प्राप्त रहती हैं। ईश्वरके विषयमे ऐसी ही धारणा अधिकतर मनुष्यो की है—किसी की स्थूल किसी की सूक्ष्म। जिन मतों में ईश्वर की भावना सूक्ष्म रूप में की गई है उनमें स्थूल शरीर आदि का आरोप न कर ईश्वर को 'शुद्ध आत्मा' माना है। पर बिना शरीर की इस निराकार आत्माके व्यापार भी ठीक उसी तरह के माने जाते हैं जिस तरह साकार पुरुषरूप ईश्वर के।

शरीरियों के मस्तिष्क या अंत:करण के जो व्यापार है वे सब उसमें आरोपित किए जाते हैं।

ब्रह्मवाद या सर्ववाद * ।

सर्ववाद कहता है कि ईश्वर और जगत् अभिन्न अर्थात् एक है। ईश्वर की यह भावना मूलप्रकृति या परमतत्व ही की भावना के अनुरूप है † । यह भावना उन सब भावनाओं के विरुद्ध पड़ती है जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। 'यह भी ठीक, वह भी ठीक' कहनेवाले बहुत से लोगों ने इन दोनों प्रकार की भावनाओं में जो विरोध है उसके परिहार का व्यर्थ प्रयास किया है। पर यह विरोध अपरिहार्य्य है। दोनों प्रकार की भावनाओं में बड़ा अंतर है। ईश्वरवाद में ईश्वर प्रकृति से सर्वथा स्वतंत्र, भूतों से परे, और जगत् से बाह्य समझा जाता है पर सर्ववाद

---

* सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

† हैकल के अद्वैतवाद और ब्रह्मवाद के बीच सिद्धांत भेद है ब्रह्मवाद चेतन समष्टि को ब्रह्म मानता है-उसका ब्रह्म चिन्मय, और ज्ञानस्वरूप है। हैकल का परमतत्व प्रवृत्तिधर्मयुक्त होने पर भी जड़ है, चेतन का उसके साथ नित्य संबंध नहीं। उसके गुण-विकाश की एक अवस्था का नाम ही चेतना है, जिसका अधिष्ठान शरीरियों के अंत:करण के अतिरिक्त और कहीं नहीं। भौतिक अंत:करण ही द्रष्टा है। अतः सांख्य के प्रकृति पुरुष के द्वैत में से यदि हम पुरुष को निकाल केवल जड़ प्रकृति ही को रखें तो हैकल का अद्वैत मत निकलता है जिसे हम प्रकृतिवाद ही कह सकते हैं।

या ब्रह्मवाद मे ब्रह्म जगत् मे अंतर्व्यापी और ओतप्रोत भाव से शक्ति रूप में उसका संचालन करनेवाला माना जाता है। सर्ववाद की भावना ही वैज्ञानिको के अनुकूल पड़ती है। परम तत्त्व की अक्षरता का जो वैज्ञानिक सिद्धांत है उसके साथ इसका मेल हो जाता है। अतः हम कह सकते है कि सर्व-वादियों का ब्रह्म अनंत विश्वविधान ही का नामान्तर है। यह सच है कि अब भी कुछ वैज्ञानिक ऐसे हैं जो इसे नहीं मानते और पुरुषाकार भावना के साथ इस जगद्विधान-समष्टिरूप सर्ववाद का सामंजस्य संभव समझते हैं पर यह सब व्यर्थ का वितडा है।

सर्ववाद या ब्रह्मवाद ज्ञान की अत्यंत उन्नत अवस्था का सूचक है अतः पृथ्वी की प्राचीन सभ्य जातियो के बीच ही इसका उदय हुआ। प्राचीन भारतवासियों और चीनियो के बीच इसका बीजारोपण ईसा से कई हजार वर्ष पहले हो चुका था। पीछे यूनान और रोम के तत्वज्ञानियो के बीच इसका प्रचार हुआ। यूनान मे इस सिद्धांत को पूर्णरूप से अनग्ज़िमेडर ने व्यक्त किया। उसी ने अनंत विश्व की एकता की स्पष्ट व्याख्या की और जगत् के संपूर्ण व्यापारों का मूलाधार एक विभु, नित्य आदितत्व बतलाया। उसने लोक-पिंडो की उत्पत्ति और लय के अखंड क्रम का भी आभास दिया। इम्पिडाक्लीज़ आदि अन्य तत्वदर्शियो ने भी ईश्वर और जगत्, शरीर और आत्मा की अभिन्नता का प्रतिपादन अपने ढंग पर किया। ईसाई धर्म्माचार्य्यों ने इस तत्व को दबाने की लाख अन्याय-चेष्टाये कीं पर यह बिल्कुल दबा नहीं। पोपों के

क्रूर अत्याचारों के समय में भी इस सत्य की घोषणा समय समय पर होती रही। सन् १६०० में इस सर्ववाद के समर्थन के अपराध में पोप की आज्ञा से ब्रूनो जीता जलाया गया।

योरप में ब्रह्मवाद या सर्ववाद की विशुद्ध और पूर्ण व्याख्या सन् १७०० में स्पिनोज़ा द्वारा हुई। उसने वस्तु-समष्टि का ऐसा लक्षण निरूपित किया जिसके अंतर्गत ईश्वर और जगत् दोनों आ गए *। इस तत्ववेत्ता ने अपने शुद्ध चिंतन के बल से जिस सिद्धांत की स्थापना की पीछे परीक्षात्मक विज्ञान से भी उसका समर्थन हुआ। इसका अद्वैतवाद ही वैज्ञानिकों का तत्वाद्वैतवाद हुआ।

अनीश्वरवाद के अनुसार जगत् का कर्त्ता और नियंता कोई ईश्वर या देवता नहीं। अनीश्वरवादियों के इस

---

* स्पिनोज़ा ने एक ही शुद्ध निरपेक्ष द्रव्य का प्रतिपादन किया है और निरपेक्षता को द्रव्य का लक्षण माना है। उसके अनुसार वस्तुतः एक ही द्रव्य है जो स्वयंभू, अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है; क्योंकि यदि वह किसी दूसरी वस्तु से उत्पन्न, किसी वस्तु से घिरा हुआ या किसी के साथ रहता तो बिना द्वितीय वस्तु के उसका बोध न होता और सापेक्ष होने से उसकी द्रव्यता जाती रहती। इस स्वयंभू अपरिच्छिन्न और अद्वितीय द्रव्य के नाम के विषय में कोई विवाद नहीं। सामान्यतः ईश्वर शब्द से इसका बोध होता है। पर तार्किकों और धार्मिकों ने इच्छा ज्ञान आदि विशिष्ट व्यक्ति विशेष को जैसा ईश्वर समझ रखा है, वैसा वह नहीं है। सर्वगत जो सामान्य सत्ता है वही ईश्वर है।

'ईश्वरानपेक्ष विश्वविधान' का आधुनिक वैज्ञानिकों के तत्वाद्वैत-वाद या सर्ववाद के साथ पूरा मेल हो जाता है। सच पूछिए तो दोनो एक ही हैं—केवल नाम का भेद है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने ठीक ही कहा है कि "सर्ववाद प्रच्छन्न अनीश्वरवाद ही है। सर्ववाद ईश्वर और जगत् इस द्वैतभाव का खंडन करके यह प्रतिपादित करता है कि जगत् अपनी ही निहित शक्तियो के द्वारा परिचालित हो रहा है। वैज्ञानिक अद्वैतवादियो का यह कहना कि ईश्वर और जगत् एक ही है प्रच्छन्न रूप से ईश्वर को विदा दे देना ही है।"

लोक मे अनीश्वरवादी बहुत बुरे समझे जाते है। लोग मानते है कि उनकी बहुत बुरी गति होगी। इसी से सब बातो को समझने बूझनेवाले लोग भी ऊपर से इस बात की चेष्टा मे रहते हैं कि वे अनीश्वरवादी न समझे जायँ। सत्य के अनुसंधान मे सच्चे हृदय से तत्पर अनीश्वरवादी वैज्ञानिक मे लोग दुनिया भर की बुराई मानने के लिए तैयार रहते है पर घटो पूजापाठ और टटघंट करनेवाले को, चाहे वह कपट और व्यभिचार ही मे डूबा रहता हो, लोग परम साधु और क्रियानिष्ठ कहते पाए जाते है। यह दुरवस्था तभी दूर होगी जब ज्ञान का प्रचार होगा और लोगो को तत्वदृष्टि प्राप्त होगी।

छठाँ प्रकरण ।

ज्ञान और विश्वास

सत्य की खोज करना ही सच्चे विज्ञान का काम है। प्रत्येक विज्ञान इस बात का प्रयत्न करता है कि सत्य का ज्ञान प्राप्त हो। प्रकृति का ज्ञान ही हमारा वास्तव ज्ञान है। यह उन अंतराभासो से सघटित होता है जिनका बाह्यपदार्थों से बिंबप्रतिबिंब संबध होता है। यह ठीक है कि हमारी बुद्धि इस जगत् की आभ्यंतर सत्ता या वास्तविक स्वरूप तक नहीं पहुँच सकती, पर विशुद्ध विज्ञानदृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि ज्ञानेन्द्रियो ओर मस्तिष्क की अविकृत क्रियाओं के द्वारा बाह्य जगत् के जो अनुभव होते है वे सब मनुष्यो मे समान होते हैं और अंत.करण की अविकृत क्रियाओ के द्वारा कुछ ऐसे अंतराभास उत्पन्न होते हैं जो सर्वत्र एक होते हैं। ऐसे अतराभासों को हम 'सत्य' कहते हैं क्योकि हमे इस बात का निश्चय रहता है कि वे वस्तुओ के ज्ञेय स्वरूप के ठीक ठीक प्रतिबिंब है।

सत्य का सारा ज्ञान दो विभिन्न, पर परस्पर सबद्ध, शरीरव्यापारो पर निर्भर है—बाह्यार्थ या विषय के इन्द्रियानुभव पर जो इन्द्रियो की क्रियाओ द्वारा प्राप्त होता है, और इन्द्रियानुभवो की योजना द्वारा संघटित और स्वयं द्रष्टा या विषयी ही मे उपस्थित अंतराभास पर। इन्द्रियानुभव जिनके

द्वारा होते हैं उन्हें बाह्यकरण (ज्ञानेन्द्रियाँ) कहते हैं और अंतराभासो को जो ग्रहण और संयोजित करते हैं उन्हें अंतःकरण कहते हैं। बाह्यकरण विज्ञानमयकोश के ऊपरी तल के अंश है, और अंतःकरण भीतरी केन्द्रस्थान के। इसी जटिल मनोविज्ञानमय कोश के द्वारा समस्त मनोव्यापार होते है।

मनुष्य के इन्द्रिय-व्यापार बनमानुसों के इन्द्रिय व्यापार के समुन्नत रूप हैं। जिस प्रकार बनमानुसी शरीर से क्रमशः उन्नत होते होते मानव–शरीर का विकास हुआ है उसी प्रकार बनमानुसी इंद्रिय-व्यापारो से मनुष्य के इंद्रिय-व्यापारो का विकास हुआ है। किम्पुरुष वर्ग (जिसके अंतर्गत बंदर, बनमानुस और मनुष्य हैं) के सबे प्राणियो की इंद्रियो की बनावट एक ही ढाँचे की होती है। जिन भौतिक और रासायनिक नियमो के अनुसार एक के इंद्रियव्यापार होते हैं उन्ही के अनुसार दूसरे के भी। जिस क्रम से और जिन अवस्थाओं मे होते हुए एक के इंद्रियव्यापार गर्भावस्था से क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी क्रम से और उन्हीं अवस्थाओ मे होते हुए दूसरे के भी। प्रारंभ मे संपूर्ण त्वक् ही वाह्यकरण (ज्ञानेन्द्रियो) का काम देता है। भ्रूण की ऊपरी कला (झिल्ली) के जो संवेदनात्मक घटक होते है वे ही ज्ञानेन्द्रियो के मूल हैं। भिन्न भिन्न विषयो (प्रकाश, शब्द ताप आदि) को विशेष रूप से ग्रहण करने के कारण वे मिलकर विशिष्ट इंद्रियो के रूप मे हो जाते हैं। जिस विषय का जिन घटको के साथ अधिक संयोग हुआ उसे ग्रहण करने ही के उपयुक्त वे हो गए। नेत्रपटल के शलाकाघटक, कानोके भीतर के श्रोत्रघटक

नाक के भीतर के घ्राणघटक, जिह्वा पर के रसघटक, सब के सब आरंभ मे ऊपरी झिल्ली के घटक थे और उसपर सर्वत्र फैले थे। मनुष्य तथा और दूसरे उन्नत जीवो के भ्रूणवृद्धिक्रम को ध्यान पूर्वक देखने से इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है। पहले कहा जा चुका है कि गर्भाधान के उपरांत किसी एक जीवके उत्तरोत्तर एक अवस्था से दूसरी अवस्थामे होते हुए विकाश का जो क्रम है वही क्रम एक प्रकार के जीवों से दूसरे प्रकार के जीवो के उत्पन्न होने का भी है। सामान्य कलाकोश या झिल्लो की थैली के रूपके जो क्षुद्र आदिम जीव थे (जैसे पेट के केचुए आदि) उनमे भिन्न भिन्न इंद्रियों का विभाग नही था। उनकी बाहरी झिल्ली मे जो संवेदनग्राही घटको की तह थी उन्हीं से सर्वत्र समानरूप में संवेदनव्यापार होता था। विकाशक्रमानुसार उन क्षुद्र जीवों से ज्यों ज्यो उत्तरोत्तर उन्नत जीवो की उत्पत्ति होती गई त्यों त्यो उनके त्वक् के घटक इस प्रकार विभक्त होते गये कि कुछ केवल एक प्रकार का संवेदन ग्रहण करने लगे और कुछ दूसरे प्रकार का, कुछ प्रकाश को ग्रहण करने लगे, कुछ शब्द को और कुछ गंध को। इस प्रकार इन भिन्न २ प्रकार के घटको की योजना से उन्नत जीवो में भिन्न भिन्न प्रकार के संवेदनसूत्रों और ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति हुई। एक प्रकार के संवेदनसूत्र से वाह्य पदार्थ के एक ही गुण का ग्रहण होता है, और का नहीं। आँख में जो संवेदनसूत्र हैं उनसे रूप ही का, कान मे जो हैं उनसे शब्द ही का, नाक मे जो हैं उनसे गंध ही का बोध होगा।

संवेदनसूत्रों की इस विशेषधर्म्मता से—उनके विशेष

विशेष गुणो को ही ग्रहण करने की शक्ति रखने से—लोगो ने कई प्रकार के भ्रांत सिद्धांत निकाले। बहुतों ने यह कहना आरंभ किया कि मस्तिष्क या आत्मा को संवेदनसूत्र की विशेष अवस्था ही का बोध हो सकता है अत: उसकी इस क्रिया द्वारा बाह्यपदार्थ के अस्तित्व और वास्तव स्वरूप के विषय मे कोई सिद्धांत नहीं स्थिर किया जा सकता। संशयवादियों ने बाह्य जगत् के होने तक मे संदेह प्रकट किया और माया-वादियो ने तो उसका होना अस्वीकार ही कर दिया।

इस प्रकार के मत भ्रमसे उत्पन्न हुए है। सबसे पहले तो समझने की बात यह है कि भिन्न भिन्न संवेदनसूत्रो के जो 'विशेष धर्म' कहे जाते है वे उनके मूल गुण नहीं है बल्कि ऊपरी झिल्ली के घटको के क्रमश एक एक विषय मे अधिका-धिक अभ्यस्त होनेसे प्राप्त हुए है। आरंभ मे ऊपरी झिल्ली के ये घटक भिन्न भिन्न विषयों को ग्रहण करने के लिए अलग अलग वर्गों मे विभक्त नही थे, सब मे सब विषयो को अत्यंत अल्पपरिमाण मे ग्रहण करने की समान शक्ति थी। क्रमशः कुछ घटक एक विषय के ग्रहण करने मे अभ्यस्त होते गए और कुछ दूसरे विषय के। कुछ घटक प्रकाशरश्मियो को ही ग्रहण करने के योग्य हो गए, कुछ शब्दतरंगो को, कुछ गंध के रासायनिक उत्तेजन को, इत्यादि। इस प्रकार कार्य्यविभाग हो जाने से विषयो को ग्रहण करने की शक्ति क्रमशः तीव्र होती गई और एक एक विषय को ग्रहण करने वाले घटको की अलग अलग योजना और स्थिति से ऊपरी झिल्ली के बना-वट मे भी विभेद पड़ते गए। प्राकृतिक ग्रहणप्रवृत्ति द्वारा ये

विभेद उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करते गए और आंख, कान, आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों का प्रादुर्भाव हुआ।* इस प्रकार भिन्न भिन्न इन्द्रियों के संवेदनसूत्र और उनके विशेष विशेष धर्म उत्तरोत्तर अभ्यास द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं और प्रादुर्भूत होकर वंशपरंपरा के नियमानुसार पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर चले आ रहे हैं।

---

* सांख्यशास्त्र में अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति का जो क्रम निर्धारित किया गया है उसमें एक ही मूल इन्द्रिय से क्रमशः और इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं मानी गई है बल्कि अहंकार से पहले पाँचों सूक्ष्म इन्द्रियां और फिर पाँच स्थूल इन्द्रियां सब की सब एक साथ और एक दूसरे से स्वतंत्र उत्पन्न हुईं, ऐसा कहा गया है। सांख्य में जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—तन्मात्र रूप में अर्थात् परस्पर अभिश्रित और सूक्ष्म मूलरूप में एक साथ उत्पन्न माने गए हैं उसी प्रकार उनको ग्रहण करनेवाली पाँचों इन्द्रियाँ भी। पर सृष्टितत्त्व के आधिभौतिक आचार्यों ने परीक्षा द्वारा यह निश्चित किया है कि आरंभ में त्वचा ही एक मूल इन्द्रिय थी जिससे और इन्द्रियाँ क्रमशः उत्पन्न हुई हैं, जैसे त्वचा पर प्रकाश का संयोग होते होते आँख उत्पन्न हुई। इस पर सांख्यवादी यह कह सकते हैं कि मूल प्रकृति में यदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों के उत्पन्न होने की शक्ति न हो तो क्षुद्र कीटों की त्वचा पर प्रकाश का चाहे जितना आघात या संयोग होता रहे तो भी उन्हें आँखें नहीं उत्पन्न हो सकतीं। उत्पन्न होने की शक्ति तो आधिभौतिक तत्त्वज्ञ भी मानते हैं पर उनका कहना है कि यह शक्ति अस्पष्ट रूप में थी विशिष्ट या पृथक् रूप में नहीं थी।

मनुष्यों के इन्द्रियव्यापारों को और दूसरे रीढ़वाले जंतुओं के इन्द्रियव्यापारों के साथ ध्यानपूर्वक मिलाने से कई बातें मालूम होती हैं। ज्ञान और भावुकता के सब से बड़े कारण आँख और कान ही को ले लीजिए। और जंतुओं के आँख-कान से रीढ़वाले जंतुओं के आँखकान की बनावट भी भिन्न और पेचीली होती है और गर्भ में उनकी वृद्धि भी विशेष प्रकार से होती है। सब मेरुदंड जीवों की इन्द्रियो के ढाँचे और उनकी गर्भवृद्धि के क्रम को देखने से यही निश्चय होता है कि वे एक ही मूल जीव से उत्पन्न हुए हैं। मेरुदंड वर्ग के जीवों मे भी कई प्रकार के ढाँचे देखने में आते हैं। यह विभिन्नता भिन्न भिन्न परिस्थिति में पड़ने और तदनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से जीवननिर्वाह करने के कारण उत्पन्न हुई है। परिस्थिति के अनुसार किसी को किसी इन्द्रिय का अधिक उपयोग करना पड़ा और किसी का कम। इस प्रकार मेरुदड वर्ग मे भिन्न भिन्न आकार और प्रकार की इन्द्रियो वाले भिन्न भिन्न जीव उत्पन्न हुए। मनुष्य, कुत्ते, बिल्ली, बैल, आदि के आँखकान की रचना और शक्ति मे भेद दिखाई पड़ता है।

मनुष्य सब से उन्नत प्राणी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी इन्द्रियाँ सब से अधिक पूर्ण हैं। गीध की दृष्टि मनुष्य की दृष्टि से कहीं अधिक तीव्र होती है। जितनी दूर की चीजे उसकी आखे देख सकती हैं उतनी दूर की चीजे मनुष्य की भी आँखे नहीं देख सकती। स्तन्यजंतुओ में हिंसक जंतुओं (शेर, भेड़िए आदि), खुरवाले जंतुओ और कुतरनेवाले

जंतुओं (जैसे चूहों, गिलहरियो आदि) की श्रवणशक्ति मनुष्य की श्रवणशक्ति से कहीं अधिक तीव्र होती है। उनके कानों के भीतर की कुंडली को देखने से ही इसका पता लग जाता है। कोकिल आदि पक्षियो की वाणी कोमल संगीत स्वर निकालने मे मनुष्य की वाणी से श्रेष्ठ होती है। कुत्ते यदि मनुष्य की घ्राणशक्ति को अपनी घ्राणशक्ति से मिलावे तो उन्हें मनुष्यों पर दया आ सकती है। इसी प्रकार रसना, कामवेदना, स्पर्श आदि की शक्तियों के विषय में भी कह सकते हैं कि वे कुछ जंतुओं मे जितनी तीव्र है उतनी मनुष्य मे नहीं।

हम उन्हीं संवेदनो के विषय मे कुछ कह सकते है जिनका हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा अनुभव होता है। पर अगविच्छेद-परीक्षा द्वारा बहुत से जंतुओ मे कुछ और ऐसी इंद्रियाँ पाई गई हैं जिनसे हम परिचित नहीं। मछलियो तथा कुछ और जलजंतुओं की त्वचा मे कुछ ऐसे इंद्रियगोलक होते हैं जो विशेप प्रकार के संवेदनसूत्रों से संवद्ध होते हैं। मछली के दाहिने और बाएँ एक एक लंबी नली होती है जिससे और छोटी छोटी नलियाँ शाखा के रूप मे निकली होती है। इन नलियों मे एक विशेप प्रकार के संवेदन सूत्र होते है जो स्थलचारी जतुओ में नहीं पाए जाते। इन सवेदनसूत्रो के बाहरी छोर पर अनुभवात्मक इंद्रियगोलक होते है। यह शरीरव्यापी इंद्रिय शायद जल के दबाव तथा उसके और और गुणों के अनुभव के लिए होती है। कुछ जाति की मछलियो में कुछ और भी इंद्रियगोलक होते है जिनका क्या उपयोग है हम नहीं कह सकते।

इन बातो से यह स्पष्ट है कि मनुष्य के इंद्रियानुभव परिमित है । पहले तो जितनी इंद्रियाँ उसे प्राप्त हैं उनके द्वारा पदार्थो के सब गुणो का अनुभव नही हो सकता—उन्ही गुणो का अनुभव हो सकता है जिन्हे विषय रूप से ग्रहण करने के लिए इंद्रियाँ है। दूसरी बात यह है कि जिन गुणो का जो अनुभव हमे होता भी है वह किसी हद तक होता है—यह नही है कि हमारी आँखे सूक्ष्म से सूक्ष्म अणुओ को देख सकती है या हमारे कान नाड़ियो के रक्तसंचार का शब्द सुन सकते है ❀। हमारी इंद्रियाँ अपूर्ण हैं । संपर्क या आघात को जिस रूप में इंद्रियाँ ग्रहण करती हैं उसी रूप मे संवेदनसूत्र उन्हे मस्तिष्क या अतःकरण तक पहुँचाते है ।

हमारी इंद्रियाँ चाहे अपूर्ण हों पर उनके महत्व को हम अस्वीकार नही कर सकते । हमारे सारे ज्ञान विज्ञान का मूल इंद्रियबोध है । ज्ञान के प्रथम साधन इंद्रियाँ हैं । अंतःकरण जब तक काम के योग्य नही होता है तब तक इन्हीं इंद्रियो (बाह्यकरणो) से ही हमारा काम चलता है; ये ही हमे बतलाती है कि क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। अतः जो लोग इंद्रियो के एकबारगी दमन या नाश का उपदेश दिया करते है वे बड़ी भारी भूल करते है। यदि कोई आदमी इस लिए अपनी आँखे निकलवा डाले कि वे एक बार बहुत बुरी चीजो पर पड़ गई थीं अथवा इस डर से अपना हाथ कटा डाले कि वह 'पराये माल' पर न पड़े तो उसे लोग

❀ जो अनाहत नाद सुनने लगते हैं उनकी बात दूसरी है ।

क्या कहेंगे ? इंद्रियज ज्ञान के आधार पर ही सारे दर्शन विज्ञान प्रतिष्ठित हैं। इंद्रियो के विना ज्ञान हो नहीं सकता।

पर इन अपूर्ण इंद्रियो के द्वारा वाह्यजगत् का जो परिज्ञान होता है उससे शिक्षितो और विचारवानो का संतोप नहीं हो सकता। वे इंद्रियो द्वारा प्राप्त संस्कारो को मस्तिष्क की संवेदन-ग्रंथियो के भीतर अनुभवरूप में ग्रहण करते है और फिर अंत:करण की ब्रह्मग्रंथि मे अंतराभास के रूप मे उनकी योजना करते हैं। अंत मे इन अंतराभासोकी योजना से संवद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। पर वुद्धि की यह योजना-शक्ति परिमित होती है। कल्पना शक्ति यदि वीच वीच मे कुछ स्वरूपो का न्यास करके इन अतराभासो को अच्छी तरह संयोजित न करे तो संवद्ध ज्ञान पूरा नही हो सकता। इस प्रकार अत.करण की भिन्न भिन्न वृत्तियो के द्वारा खडज्ञान के संयोजित और समन्वित हो जाने पर एक नए सामान्य स्वरूप का आभास होता है जिससे उपस्थित विषय का समाधान हो जाता है और हमारी कार्य्यकारण वुद्धि तुष्ट हो जाती है।

वह अंतराभास जिसकी उद्भावना ज्ञान की शृखला पूरी करने के लिए अथवा निश्चयात्मक ज्ञान के अभाव मे उसका स्थान ग्रहण करने के लिए की जाती है 'विश्वास' कहलाता है। प्रतिदिन के व्यवहार मे हमें इसका काम पड़ता है। जब हमें यह निश्चय नहीं होता है कि वात ऐसी ही है तव हम कहते हैं कि हमें विश्वास है कि वात ऐसी ही है। इस प्रकार का विश्वास विज्ञान तक मे चलता है। दो वातों के वीच अमुक संबंध है इसका प्रत्यक्ष द्वारा निश्चय न होने पर

भी हम यह अनुमान कर लेते या मान लेते है कि संबंध है। यदि यह संबंध कार्य्यकारण का हुआ तो इस प्रकार का मानना अभ्युपगम कहलाता है। विज्ञान मे ऐसे ही अभ्युपगम ग्राह्य होते हैं जो मनुष्य की बुद्धि मे आ सकते हैं और अनुभव के विरुद्ध नही पड़ते। भौतिक विज्ञान में ईथर की गति, रसायन शास्त्र मे परमाणु और उनकी प्रवृत्ति, जीवविज्ञान मे सजीव कललरस का अण्वात्मक होना इसी प्रकार के अभ्युपगम है। ईथर इतना सूक्ष्म है कि उसकी गति को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। इसी प्रकार रासायनिक मूल द्रव्यो के परमाणुओ और कललरस के अणुओ का निश्चय भी हम परीक्षा आदि द्वारा नहीं कर सकते।

बहुत सी संबद्ध बातो का समाधान एक सामान्य कारण मान कर करना सिद्धांत निकालना कहा जाता है। चाहे अभ्युपगम हो, चाहे सिद्धांत, विश्वास दोनों मे आवश्यक है। दोनों मे कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। वस्तु-संबध-ज्ञान के लिए अकेली बुद्धि ही को नहीं काम करना पड़ता। कुछ बातों का तो हमें प्रत्यक्ष होता है, कुछ का बुद्धि के द्वारा निश्चय होता है और कुछ का कल्पना के सहारे अनुमान होता है। इन तीनो के मेल से ही बड़े बड़े सिद्धात निकलते हैं। दर्शन या विज्ञान मे कोई ऐसा सिद्धांत नहीं जिसमें अनुमान से काम न लिया गया हो। शुद्ध प्रत्यक्ष ही के आश्रय पर यदि कोई किसी विज्ञान की स्थापना करना चाहे तो नहीं कर सकता। कार्य्य-कारणसंबध-ज्ञान केवल प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता।

ज्योतिष मे आकर्षणसिद्धांत, भौतिकविज्ञान मे गतिशक्ति का सिद्धांत, रसायन में परमाणुसिद्धांत, प्राणिविज्ञान मे विकाशसिद्धांत, इत्यादि बड़े महत्व क सिद्धांत है। इनके द्वारा प्राय. समस्त प्राकृतिक व्यापारो का सांमजस्य भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे बहुत सी बातो के लिय एक एक सामान्य कारण मान लेने से हो जाता है। इन सामान्य कारणो का स्वरूप आदि चाहे हम न भी स्थिर कर सके पर इनका अस्तित्त्व मान लेने से हमारा काम चल जाता है। संशयवादी कह सकते हैं कि आकर्षण, परमाणु, विकाश इत्यादि काम चलाने के लिए मानी हुई बाते हैं— इनका आधार 'शास्त्रीय विश्वास' है और कुछ नहीं। पर इस प्रकार के शास्त्रीय अनुमान या शास्त्रीय विश्वासके विना किसी प्रकार का ज्ञान हो नहीं सकता।

यह तो हुआ 'शास्त्रीय विश्वास' जो अनुमान के आधार पर होता है। इससे सर्वथा भिन्न वह विश्वास होता है जो साप्रदायिक या मतमतांतरसंबंधी कल्पित बातो मे होता है। सांप्रदायिक विश्वास का अर्थ है अलौकिक और अप्राकृतिक बातो मे विश्वास जिनकी सगति बुद्धि के अनुसार नहीं बैठ सकती। इस प्रकार का विश्वास व्यवस्थित 'अनुमान*के उपरांत नही

---

* जो कल्पना प्रत्यक्षके आधार पर और हेतु ज्ञानपूर्वक की जाती है उसी को अनुमान कहते है। बुद्धि की सहयोगिता से या उसके आदेश पर प्रयोजनवश जो अंतराभास कल्पना उपस्थित करती है वही अनुमान है। इसी से अनुमान एक प्रकार से बुद्धि ही का कार्य कहा जाता है। कल्पना की अव्यवस्थित क्रीड़ा को अनुमान नहीं कह सकते।

होता, यो ही बुद्धि को किनारे रख कर किया जाता है। अत इसे एक प्रकार का अंधविश्वास ही कह सकते हैं। इसमे और शास्त्रीय विश्वास मे बड़ा भारी भेद यह है कि यह ऐसी बातो के प्रति होता है जिनका प्रकृति में प्रायः अत्यंताभाव होता हैं, जो विज्ञान द्वारा निश्चित प्राकृतिक नियमों के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं। भिन्न भिन्न धर्म्मों में विश्वास रखनेवाले एक या कई भूतातीत शक्तियां मान कर अनेक प्रकार की कल्पित और असभव बाते मानते हैं।

भूमंडल पर बसनेवाली मनुष्यजातियो की जो इधर खूब छानबीन की गई तो अनेक प्रकार के अंधविश्वासो का पता लगा जो भिन्न भिन्न असभ्य जातियो के बीच अब तक प्रचलित है। इन अंधविश्वासों का परस्पर मिलान करने पर उनमे विलक्षण सादृश्य पाया जाता है। कुछ विचार करने पर बहुतो का, और तत्वदृष्टि से विचार करने पर सब का, एक ही मूल निश्चित होता है। सब का मूल है कारणजिज्ञासा जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। मनुष्य प्रकृति के बहुत से व्यापारो को देखता है और उनका कारण जानना चाहता है। ऐसी बातो के कारणो की जानने की व्यग्रता सब से अधिक होती है जिनसे मन मे किसी प्रकार का भय उत्पन्न होता है जैसे बादल गरजना, बिजली चमकना, भूकंप आना ग्रहण लगना इत्यादि। असभ्य से असभ्य, जंगली से जंगली, जातियो मे ऐसी बातो के कारण जानने की व्यग्रता पाई जाती है। और कहाँ तक कहे कुछ पशुओ तक में पाई जाती है। कुत्ते जब पूर्ण चद्र को देख कर, फहराते हुए झंडे को देख

कर, शंख या घंटे का शब्द सुनकर भूँकने लगते है तब वे केवल अपना भय ही प्रकट नही करते बल्कि इन रहस्यपूर्ण व्यापारों के कारण जानने की व्यग्रता भी प्रकट करते हैं। प्राचीन जातियो के बीच धर्म का उदय ऐसे ही व्यापारों के कल्पित कारणो में विश्वास करते करते हुआ है। आगे की पीढ़ियों में ये विश्वास सस्कार के रूप में अधिक बद्धमूल होते गए। इस प्रकार अंधविश्वास, पितरो की उपासना और अनेक प्रकार के मनोरागो से भिन्न भिन्न जातियो के बीच मत मतांतारो की स्थापना हुई।

आज कल की सभ्य जातियों के बीच जो धर्म विश्वास प्रचलित है वे असभ्य जंगली जातियो के अंधविश्वास से बहुत उन्नत समझे जाते हैं। ये जातियां समझती हैं कि सभ्यता द्वारा हमारे सब अंधविश्वास दूर हो गए है। पर यह बडी भारी भूल है। निष्पक्ष भाव से यदि मिलान करके देखा जाय तो धर्मविश्वास जैसा असभ्य जातियो का है वैसा ही सभ्य कहलानेवाली जातियो का भी। दोनो मे केवल स्वरुप भेद है, ऊपरी बातों मे थोड़ा बहुत फर्क है। तत्वज्ञान की दृष्टि से सभ्य जातियो के परिमार्जित धर्मविश्वास भी वैसे ही असंगत और ऊटपटाग है जैसे जंगली जातियो के जिन्हें वे अहंकारवश उपेक्षा की दृष्टि से देखती हैं। सभ्य दशो मे जो मत प्रचलित हैं उनकी यदि समीक्षा की जाय तो वे सब अंधविश्वासपूर्ण ही पाए जायगे। ईसाई मत को ही लीजिए। सृष्टि की ६ दिन में रचना, देवत्रयी (पिता, पुत्र और पवित्रात्मा), पवित्रात्मा द्वारा

कुमारी मरियम का गर्भाधान, ईसा का मर कर जी उठना और सदेह स्वर्ग जाना इत्यादि वैसी ही बे सिर पैर की बाते है जैसी मुसलमान, हिन्दू, बौद्ध आदि और मतो मे पाई जाती हैं। इनमे से किसी एक मत पर जिसे पक्का विश्वास है वह अपने ही मत को एक मात्र सत्य और दूसरे मत को मिथ्या क्या घोर अधर्म समझता है। जितना ही जो संप्रदाय अपने मत का, अनन्य और दृढ़ विश्वासी होगा उतने ही कट्टरपन और भीषणता के साथ वह और संप्रदायों के साथ झगड़ा करने के लिए तैयार रहेगा। संसार मे धर्म के नाम पर जो इतने भीषण युद्ध हुए है वे सब इसी अनन्य विश्वास, इसी अंधविश्वास के कारण। शुद्ध बुद्धि की कसौटी पर तो सारे प्रचलित मत समान रूप से असंगत, मिथ्या और कपोलकल्पित है। युक्ति और विश्वास के सामने कोई ठहरने के योग्य नही।

इस अंधविश्वास ने मनुष्य जाति का कितना अपकार किया है। धर्मान्धता के कारण कितना रक्तपात हुआ है, कितने प्राणियो का सुख धूल मे मिल गया है। कितने आदमियो को घरबार छोड़ दूर देशों मे भागना पड़ा है। राज्यशासन मे जहाँ जहाँ धर्मान्धता का प्रवेश रहा है वहाँ वहाँ घोर अनर्थ हुए है। बहुत से देशो मे धर्मशिक्षा स्कूलो मे अनिवार्य रखी गई है जिसका फल यह होता है कि बालको के कोमल हृदयो पर ऐसे कुसंस्कार जम जाते हैं जो कभी नही जाते। उनका चित्त अंधविश्वास का अनुयायी हो जाता है, फिर उन्हें व्याहत और असंगत बाते अभ्यास के कारण नही

खटकती। दुःख की बात है कि जिन देशों मे सौभाग्यवश धर्म-शिक्षा की अनिवार्य्य व्यवस्था नहीं है वहाँ भी अब कुछ लोग गला फाड़ फाड़ कर उसकी आवश्यकता बतला रहे हैं। पर आधुनिक सभ्य राज्यों के लिए यह परम आवश्यक है कि सर्व साधारण की शिक्षा के लिए ऐसे विद्यालय खुलें जो सांप्रदायिक बंधनों से मुक्त हो।

साम्प्रदायिक शिक्षा के लिए जो इतना आग्रह किया जाता है वह कई प्रकार के मनोरागों के कारण। इनमे सब से प्रबल है परम्परा से चली आती हुई बातों पर 'आस्था'। जिन बातों को बापदादे मानते चले आए हैं उनसे एक प्रकार की आसक्ति हो जाती है—उनका मानना धर्म समझा जाता है। पर ऐतेहासिक दृष्टि से जो विचार करेगा उसे प्रकट हो जायगा कि पूर्वजों की परंपरा मे बराबर एक ही प्रकार का विश्वास नहीं रहा है। एक हजार वर्ष पहले के बापदादे जिन बातों को मानते थे वे उनसे भिन्न थीं जिन्हे ढाई हजार वर्ष पूर्व के बापदादे मानते थे। इसी प्रकार तीन सौ वर्ष पहले जिन जिन बातों पर लोगों का विश्वास था उनका एक हजार वर्ष पहले कहीं नाम तक न था। लोगों के विश्वास और धारणा में देशकालानुसार बराबर परिवर्त्तन होता आया है। दूसरी बात यह है कि अपनी विद्या, बुद्धि और स्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लिए धर्म का एक विशेष रूप ग्रहण कर लेता है जो और लोगों के तथा बापदादों के धर्म से कुछ निराला ही होता है।

सब से प्रबल अंधविश्वास जिसका जनता पर अब तक

बहुत कुछ प्रभाव है अध्यात्म वा आत्मविद्या है। दुःख और आश्चर्य की बात है कि करोड़ों शिक्षित पुरुष—बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता तक—इस घोर अंधविश्वास मे निमग्न हैं। अध्यात्म-संबंधी बहुत सी पत्रिकाएँ प्रकाशित होकर इस अंधविश्वास को चारो ओर दूर दूर तक फैलाती है। अच्छे खासे पढ़ लिखे और प्रतिष्ठित लोग ऐसे चक्रो मे सम्मिलित होते है जिनमे प्रेतात्माएँ आकर बोलती, लिखती और पर-लोक का हाल बताती है। अध्यात्मवादी प्राय. इस बात का गर्व प्रकट किया करते है कि उनके अंधविश्वासो का समर्थन बडे बड़े विज्ञान-विशारद करते हैं। वे अपने पक्ष की पुष्टि मे ऐसे लोगो का नाम लेते है जैसे जरमनी के जोलनर और फेक्नर, इंगलैड के वालेस और क्रुक्स। ऐसे ऐसे प्रसिद्ध वैज्ञा-निक जो अध्यात्म के चक्कर मे पड़ जाते है इसका कारण है कुछ तो उनकी कल्पना की अधिकता और विवेचन-शक्ति की न्यूनता और कुछ उन प्रबल संस्कारो का प्रभाव जो साम्प्रदायिक शिक्षा द्वारा उनके चित्त मे बचपन ही मे जमा दिए जाते है। अमेरिका के प्रसिद्ध इंद्रजालिक स्लेड ने जोल-नर, फेक्नर और वेबर को अपने चक्र मे सम्मिलित कर के कैसे धोखे में डाला था इस बात को जरमनी मे प्राय. सब लोग जानते है। पीछे उसकी चालाकियाँ खुल गई और वह एक धूर्त्त प्रमाणित हुआ। इसी प्रकार आत्मविद्या के चमत्कार जहाँ जहाँ दिखाए गए है वहाँ वहाँ अनुसधान करने पर उनके भीतर गहरी चालबाज़ियाँ पाई गई है। जिनके ऊपर प्रेतात्माएँ बलाई जाती हैं वे या तो पक्के धूर्त्त

होते हैं अथवा दुर्वलचित्त के मनुष्य। आत्माओं का अन्य लोक से आना, वातचीत करना, परोक्ष का वृत्तान्त कहना ये सब बातें कल्पना की उच्छृंखलता, विवेचना की न्यूनता और शरीरविज्ञान की अनभिज्ञता से उत्पन्न है।

संसार के प्रचलित मतों के वीच वहुत सी बातो मे परस्पर भेद होते हुए भी एक वात ऐसी है जो सब मे समानभाव से पाई जाती है और जिसे प्रत्येक अपना बड़ा भारी सहारा समझता है। जितने मत है सब इस वात का दावा करते है कि हम जगत् की स्थिति, जीवन के रहस्य आदि के संबंध मे दैवी आभास वा दिव्यदृष्टि द्वारा ऐसी बातो का ज्ञान कराते है जो मनुष्य की प्राकृतिक बुद्धि के बाहर है। भिन्न भिन्न मतवाले अपने उपदेशो और वितंडावादो को दैवी आभास द्वारा प्राप्त वतलाते हैं। उनका कहना है कि उन्हीं के अनुकूल आचरण और विश्वास करना मनुष्य का धर्म है। मानवजीवन का शासन उन्हीं के अनुसार होना चाहिए, वेही ईश्वरीय धर्म शास्त्र है। वहुत सी ऊटपटांग गढ़ी हुई कथाओ का मूल भी दैवी आभास ही वतलाया जाता है। कहीं तो ईश्वर साक्षात् प्रकट होकर मनुष्य की तरह वातचीत करता हुआ वताया गया है और कहीं मेघगर्जन, आँधी, भूकंप, दावाग्नि मे प्रज्वलित झाड़ी (जैसी मूसा ने देखी थी) इत्यादि द्वारा अपने को व्यक्त करता हुआ कहा गया है। पर जिस ज्ञान को ईश्वर इनके द्वारा व्यक्त करता है वह वैसा ही होता है जैसा मनुष्य अपने मस्तिष्क मे उद्भावित करके अपने कंठ और वाणी द्वारा प्रकट करता है। प्राचीन भारत, मिस्र, यूनान

और रोम की धर्मकथाओ मे, नई और पुरानी बाइबिल में देवता या ईश्वर मनुष्य ही के समान बोलता, सोचता, विचारता, और काम करता हुआ बतलाया गया है। अतः जिस ज्ञान को वह कल्पित रीति से व्यक्त करता हुआ बतलाया गया है वह मनुष्यों की कपोल-कल्पना मात्र है। उसे ज्ञान नहीं कह सकते। उसमें विश्वास करना घोर अंधविश्वास है।

सच्चे ज्ञान का आभास प्रकृति ही में मिल सकता है–उसमें उसे ढूंढ़ना चाहिए। उसके लिए अप्राकृतिक शक्ति की कल्पना करना प्रमाद और बुद्धि का आलस्य है। सत्य का ज्ञान जो कुछ मनुष्य को हुआ है और हो सकता है वह प्रकृति की समीक्षा द्वारा प्राप्त अनुभवों तथा इन अनुभवों की सगत योजना द्वारा स्थिर सिद्धान्तों द्वारा ही। प्रत्येक बुद्धिसंपन्न और अविकृत मस्तिष्क का मनुष्य सत्य का आभास, प्रकृति-निरीक्षण द्वारा प्राप्त कर सकता है और अपने को अज्ञान और अंधविश्वास के बंधन से मुक्त कर सकता है।

सत्रहवाँ प्रकरण

विज्ञान और ईसाई मत

विगत शताब्दी से विज्ञान और ईसाई मत के बीच विरोध बढ़ता चला जाता है। ज्यों ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जाती है त्यों त्यों उन मतों की असारता प्रमाणित होती जाती है जो दिव्य दृष्टि या दैवी आभास के बल पर बुद्धि का दमन करके उसे बंधन में रखते आए हैं। ऐसे ही मतों मे से एक ईसाई मत भी है। जितनी ही दृढ़ता के साथ आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान, भौतिक विज्ञान, और रसायन शास्त्र ने समस्त जगत् के चलानेवाले नियमो का निरूपण किया है और उद्भिद्विज्ञान, जंतुविज्ञान, और मानवविज्ञान ने इन नियमों की चरितार्थता सजीव सृष्टि के बीच दिखलाई है उतने ही कट्टरपन के साथ ईसाई मत ने द्वैतवादी दर्शन का सहारा लेकर 'आध्यात्मिक क्षेत्र' में—अर्थात मस्तिष्क-व्यापार के एक विभाग में—इन प्राकृतिक नियमो की चरितार्थता अस्वीकार की है।

आधुनिक विज्ञान द्वारा निश्चित बातों और ईसाई मत की पुरानी सड़ी गली बातों के बीच कितना गहरा विरोध है इसे कई लेखक अच्छी तरह दिखा चुके हैं। ईसाई मत ने अपनी स्थिति के लिए विज्ञान से जो लड़ाई ठानी उसके द्वारा उसने अपने विनाश के सामान और भी अधिक इकट्ठे कर लिए। दार्शनिक रीति से इस बात को हार्टमान ने अपने

'ईसाई मत का आत्मविनाश' नामक ग्रंथ में अच्छी तरह दिखाया है । इस मत का संसार के एक बड़े भाग की सभ्यता पर कितना प्रभाव पड़ा है इसको देखते हुए उसके इतिहास पर दृष्टि डालना आवश्यक है । ईसाई मत के चार रूप कहे जा सकते हैं जो उसे आरंभ से अब तक प्राप्त हुए है—(१) प्राचीन ईसाई मत (ई० सन की पहली से तीसरी शताब्दी तक), (२) महंती (पोपो द्वारा परिचालित) ईसाई मत (चौथी से १५ वी शताब्दी तक), (३) पुन संस्कार प्राप्त ईसाई मत (१६ वीं से १८ वी शताब्दी तक) और (४) आज कल का नाम मात्र का ईसाई मत ।

प्राचीन ईसाई मत ।

ईसाई मत अपने आदि रूप मे तीन सौ वर्ष तक रहा । ईसा, जिसने ईसाई मत चलाया, दया और प्रेम से परिपूर्ण था पर उस समय की (यूनानी, मिस्री आदि) सभ्य जातियो के ज्ञान विज्ञान से कोसो दूर था । यहूदियो मे प्रचलित किस्से कहानियो के अतिरिक्त वह और कुछ भन ही जानता था । वह अपनी लिखी एक पंक्ति भी नहीं छोड़ गया । यूनानी दर्शन और विज्ञान उससे पाँच सौ वर्ष पहले ही किस उन्नत अवस्था को पहुँच चुके थे इसका उसे कुछ भी परिज्ञान न था ।

उसके विषय मे हमें जो कुछ जानकारी है वह नई बाइबिल (इंजील) के द्वारा जिसके अतर्गत चार सुसमाचार और प्रेरितो के पत्र है । पहले चार सुसमाचारो की बात

लीजिए। प्रत्येक इतिहासवेत्ता जानता है कि उनका संग्रह पहली और दूसरी शताब्दी के ढेर के ढेर जाली कागजों और पोथियों मे से चुन कर हुआ है। दूसरी शताब्दी मे यह संग्रह धर्म-शास्त्र के रूप मे व्यवस्थित हुआ पर चौथी शताब्दी तक घटाने और बढ़ाने का काम थोड़ा बहुत जारी रहा। सट जिरोम नामक एक प्राचीन धर्माचार्य्य ने लिखा है कि ईसवी सन् ३२५ में निकेआ के धर्मसंघ मे उक्त संग्रह में एक पोथी और जोड़ी गई थी। आधुनिक विद्वानो ने तीन सुसमाचारो (मत्ती, मार्क, और लूक जो इन तीनो के मरने के पीछे औरो के द्वारा लिखे गए) का ईसवी सन ६५ और १०० के बीच और योहन के समाचार का ईसवी सन् १२५ के कुछ पहले लिखा जाना निश्चित किया है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि ये चारो सुसमाचार जिस रूप मे आज मिलते हैं उसी रूप में पहले भी थे। इनमे न जाने कितना फेरफार हुआ है। ईसा की मृत्यु के १५० वर्ष तक तो इन सुसमाचारो का पुस्तक रूप मे संकलन हुआ ही नही था। सेंट जस्टिन के समय से ही इनका एक संबद्ध ग्रंथ के रूप मे होना पाया जाता है। उसके पहले इनके कुछ वाक्य ही इधर उधर उद्धृत पाए जाते हैं, पुस्तको के रूप मे इनका उल्लेख नहीं मिलता। अस्तु, इन सुसमाचारो मे जो कथाएँ पाई जाती है उनका यदि कोई इन पुस्तको के सकलन के पहले प्रमाण ढूँढ़ना चाहे तो नहीं मिल सकता। ईसा की मृत्यु के सौ सवा सौ वर्ष पीछे ही इन कथाओं का प्रचार पाया जाता है। किसी महात्मा या मतप्रवर्त्तक के संबंध में कितनी जल्दी जल्दी

अलौकिक कथाएँ जुड़ती जाती हैं इसका जिन्हें अनुभव है वे कदापि इतने पीछे संकलित की हुई पुस्तको मे लिखी हुई बातो को ठीक नहीं मान सकते * । सब से पहले लिखी जानेवाली पोथी (मार्क) का काल यदि हम ई० सन ७० मान ले तो भी कथाओ के जुड़ने और फैलने के लिए यथेष्ट समय माना जा सकता है ।

पाल प्रेरित के पत्रो से भी ईसा के जीवनवृत्तांत का कुछ विशेष पता नही लगता । अस्तु, ईसाई मत का प्रवर्त्तक कैसा था, उसने क्या क्या काम किए, यह ठीक ठीक नहीं

---

* भारतवर्ष में तो साधुओं और महात्माओं के संबध में अलौकिक कथाओ का जोड़ा जाना एक बहुत साधारण बात है । सारा भक्तमाल ऐसी ही अलौकिक और अप्राकृतिक कथाओं से भरा पड़ा है । मुर्दे जिलानेवाले, लड़की से लड़का कर देनेवाले, नदी के जल से घी का काम लेनेवाले न जाने कितने हुए हैं । अयोध्या में बाबा रघुनाथ दास, बाबा माधोदास अभी हाल में ही हुए हैं । एक जीवित महात्मा का जीवनचरित उनके कुछ भक्तों ने लिखा है जिसमे बहुत से चमत्कार वर्णन किए गए हैं, जैसे आँख मूँदते ही सैकड़ों कोस दूर एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन पर पहुँच जाना, ईश्वर का आकर सरकारी काम पूरा कर जाना इत्यादि । किसी साधारण आदमी से पूछिए वह किसी न किसी करामाती बाबा का नाम जरूर जानता होगा । पर ऐसे ऐसे करामातियों की कथाएँ मूर्ख संप्रदायों या पथो ही मे विशेषत: प्रचलित हैं । शकराचार्य्य का अनुयायी कोई वेदाती ऐसी बातों की चर्चा नहीं करेगा ।

कहा जा सकता। उसके संबंध मे जो अनेक प्रकार की कथाएँ पीछे लिखी गई हैं उन्हे माननेवाले अब दिन दिन कम होते जा रहे हैं। ईसा की अलौकिक (पवित्रात्मा द्वारा कुमारी कन्या के गर्भ से) उत्पत्तिवाली कथा अब इंगलैंड, जरमनी आदि देशों में प्रक्षिप्त कह कर टाली जा रही है। इसी प्रकार कब्र से उठना, सदेह स्वर्ग जाना, मुर्दे जिलाना इत्यादि जो अलौकिक बाते धर्मपुस्तक में पाई जाती है उनकी चर्चा अब पढ़े लिखे लोगों के बीच नहीं होती। इस प्रकार ईसा का जो चित्र बाइबिल ने जनसाधारण के चित्त मे अंकित कर रखा था वह क्रमश: हवा होता जाता है।

ज्यों ज्यो विद्वान् लोग ईसा के वास्तविक चरित्र और उपदेश के संबंध मे ऐतिहासिक छानबीन करते जाते हैं और कुछ कुछ असल बातो का पता लगता जाता है त्यो त्यों मतभेद बढ़ता जाता है। दो तत्त्व निर्विवाद ठहरते हैं—दया दाक्षिण्य का सिद्धांत और आचरण का प्रधान नियम (दूसरों के साथ तू वैसा ही कर जैसा तू चाहता है कि दूसरे तेरे साथ करें)। पर धर्म के ये दोनो तत्त्व ईसा से हजारों वर्ष पहले प्राचीन सभ्य जातियो के बीच पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थे। *

---

* शरशय्या पर भीष्म ने जो उपदेश दिए है उनमे एक यह भी है—"जो अपने को अच्छा लगे उसे दूसरो के लिए भी अच्छा समझे और जो अपने को अप्रिय है उसे दूसरो के लिए भी अप्रिय समझे।"

जैगीषव्य ने इसी प्रकार देवल से कहा था—"जो उनके ऊपर

महंती या रोमक मत।

कैथलिय संप्रदाय मे धर्म्माचार्य्य पोप की आज्ञा सब बातो में मान्य समझी जाती है। पुराने समय में पोप लोगो का प्रताप और वैभव बहुत बढ़ा चढ़ा था। योरप के बड़े बड़े बादशाह उनके डर से कॉपते थे। राजाओं को राजसिंहासन से च्युत करना, धर्मद्रोह का अपराध लगा कर लोगो को चिता पर बिठा कर भस्म करना उनके लिए एक साधारण बात थी। ईसाई मत ईसा के शिष्यो द्वारा पहले यूनान मे पहुँचा, वहाँ से फिर रोम में गया। रोम ही से वह इंगलैंड आदि देशो मे फैला। अत महंत की गद्दी वही स्थापित हुई। रोमक संप्रदाय के ईसाई सब बातो मे पुरानी पद्धति के अनुयायी है। उनके यहाँ जो प्रार्थना होती है वह लैटिन भाषा मे। उनके गिरजो मे ईसा की माता मरियम तथा अनेक महात्माओ या संतो की मूर्तियाँ होती है। १२०० वर्ष तक योरप का आध्यात्मिक शासन इसी संप्रदाय के हाथ मे रहा। अब भी इसको माननेवाले संसार मे बहुत अधिक हैं। ५० करोड़ ईसाइयो मे से २५ करोड़ रोमक मत के है। सब से अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इतने दिनो के बीच यह एशिया के प्राचीन धर्मों पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका। अब भी वहाँ साढ़े पचास करोड़ बौद्ध और बीस बाईस करोड़ हिंदू वर्त्तमान है।

आघात करते हैं उनसे वे (मनीषी) बदला लेने की भी इच्छा नहीं रखते।"

चौथी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक योरप में रोमक मत का एकाधिपत्य रहा। उस बीच मे घोर अंधकार छाया रहा। पोपों के अत्याचार से स्वतंत्र विचार का अवरोध रहा, ज्ञान-विज्ञान का मार्ग बंद रहा, अन्याय और व्यभिचार का प्रचार रहा। ईसा के पूर्व यूनान और रोम आदि की प्राचीन सभ्यता के प्रभाव से जो जातियाँ ज्ञान के उन्नत सोपान पर आरूढ़ हो चुकी थीं वे ईसाई मत के कुप्रभाव के कारण एक-दम पतित होकर बर्बरावस्था को प्राप्त हो गईं। विश्वास को बुद्धि पर प्रधानता दी गई। बुद्धि के द्वारा तत्त्वाचिंतन और वैज्ञानिक अनुसंधान का कुछ महत्त्व ही न रह गया' क्योंकि सब लोग ईसाई धर्म्माचार्य्यों के उपदेशानुसार कल्पित परलोक की तैयारी ही मे हैरान रहने लगे।

सन् ३२५ में पोप कांस्टेंटाइन की अध्यक्षता मे निकेआ के धर्मसंघ की बैठक हुई थी। तभी से प्राचीन काल के दर्शन और साहित्य पर प्रहार आरंभ हुआ। उनका प्रचार बंद किया गया। यहाँ तक कि बहुत से ग्रंथ नष्ट कर दिए गए। स्वतंत्र दर्शन और विज्ञान की चर्चा ही उठ गई। जो कोई सृष्टिविज्ञान आदि के संबंध में अपना स्वतंत्र विचार प्रगट करता था वह जीता जला दिया जाता था। इस प्रकार १२०० वर्ष तक 'परमशक्तिशाली पोपों के अत्याचार से सारा योरप अज्ञान के बंधन मे पड़ा रहा।

ईसाई धर्म के जो मुख्य तत्त्व है वे सादाचार-संबंधी हैं। उनकी रक्षा लोकरक्षा के लिए परम आवश्यक है। अतः यह बात नहीं है कि ईसाई मत ने ही पहले पहल उन तत्त्वों का

उद्‌घाटन किया, ईसा के पहले किसी को उनका ज्ञान नहीं था। ईसा के कई हज़ार वर्ष पहले से धर्म के वे आदर्श भारतीय आर्य्यों, पारसियो, चीनियो, मिस्रियो, यूनानियों तथा और दूसरी सभ्यताप्राप्त जातियों के बीच पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थे। इन प्राचीन जातियो के बीच उनकी स्थापना अत्यंत दृढ़ नीवँ पर थीं। पोपो के आडंबर के आगे धर्म के वास्तव अंग छिप गए। स्वर्गप्राप्ति कराने का ठेका होने लगा, मुक्ति बिकने लगी। अधर्मियों अर्थात् पोप की इच्छा के प्रतिकूल चूँ करनेवाले के लिए स्थान स्थान पर विशेष न्यायालय (वा अन्यायालय) खुल गए। सन् १४८१ और १४९८ के बीच अकेले स्पेन मे ८००० मनुष्य जीते जलाए गए, ९०० मनुष्यो की जायदाद जप्त की गई। इसी प्रकार हालैड मे पाँचवे चार्ल्स के राजत्वकाल म पादरियो की रक्तपिपासा यहाँ तक बढ़ी कि ५०० मनुष्यो के प्राण अनेक प्रकार की दुर्दशा से लिए गए। एक ओर तो निरपराध प्राणी घोर यन्त्रणा से हाहाकर करते थे दूसरी ओर सारे योरप का धन धर्मदंड के रूप मे पोप के खज़ाने मे जाता था और अनेक प्रकार के उपभोगो से ईसा के अनुयायी धर्माचार्य्यों की आत्माएँ तुष्ट होती थी। उपदंसग्रस्त पोप दसवे लिओ ने एक बार मौज मे आकर कह ही डाला कि "ये सब अधिकार और उपभोग हमलोगो को ईसा की कहानी की बदौलत ही प्राप्त है।"

रोमक मत क प्रताप से समाज की दशा एकदम बिगड़ गई, उसकी सारी व्यवस्था नष्ट हो गई। अज्ञान, दारिद्र्य और अंधविश्वास के साथ साथ व्यभिचार खूब बढ़ा।

क्वारे रहने का जो नियम चलाया गया उससे व्यभिचार मे पूरी सुगमता हो गई। एक एक मठ मे हजारो क्वारे बाबा और क्वारी सन्यासिने रहने लगी। अनेक प्रकार के छल, पाखंड और मिथ्या प्रवादों के द्वारा व्यभिचार-लीला होने लगी। 'अनीश्वरवादी ईश्वर के न होने के जो अनेक प्रमाण दिया करते हैं उनमे यह भूल जाते है कि १२०० वर्षतक 'ईसा के नायब' ने जो अनेक प्रकार के घृणित अत्याचार प्रजा पर किए वे सब ईश्वर के नाम पर ही। मुहम्मद के अनुयायियो ने जो इतने प्राणियो की हत्या की वह अल्ला के नाम पर ही।

संस्कारप्राप्त ईसाई मत।

१६ वीं शताब्दी के आरंभ के साथ ही योरप में एक नया युग उपस्थित हुआ। जरमनी के लूथर ने ईसाई मत का संस्कार किया। पोप द्वारा प्रचारित व्यवस्था का खंडन किया गया। उसका एकाधिपत्य अस्वीकृत किया गया। छापे के प्रचार और दूसरे देशो के संसर्ग से विद्या की चर्चा पहले ही से हो चली थी। अतः संशोधित मत के प्रचार मे बड़ी सुगमता हुई। जो पोपो के अत्याचार से दबे हुए थे वे इस नए संप्रदाय का सहारा पाकर बहुत प्रबल हुए। संस्कृत संप्रदाय दिन दिन बढ़ता गया। लोगों की बुद्धि, जो इतने दिनो तक कड़े बंधन में पड़ी थी, कुछ कुछ मुक्त हो कर इधर उधर दौड़ने लगी। सृष्टि के वास्तव तत्वों की ओर ध्यान जाने लगा'। 'लूथर ने पोपो के पाखंड का तो खंडन किया पर जिस घोर अंधविश्वास का सहारा लेकर ईसाई मत खड़ा हुआ था उससे वह अपने

को मुक्त नहीं कर सका था। वह जिंदगी भर बाइबिल की बातो को ईश्वरवाक्य कहता रहा। ईसा का क़ब्र से जी उठना, मनुष्य जाति का शापवश मूल ही से पापग्रस्त होना, संसार में होनेवाली छोटी से छोटी बात का पूर्व ही से निश्चित होना, केवल विश्वास द्वारा ही धर्मसंबंधी बातो का समाधान तथा इसी प्रकार की और दूसरी कल्पनाओ का वह कट्टर समर्थक था। कोपरानिकस के भूभ्रमणसिद्धांत को उसने मूर्खता बतलाया क्योंकि बाइबिल में जोशुवा ने सूर्यको ठहर जाने के लिए कहा है पृथ्वी को नहीं। सुधारे हुए ईसाई मत के अनुयायियो का कट्टरपन भी कुछ कम नहीं था। उन्हीं मे से एक ने एक डाक्टर को इसलिए जलवा दिया कि उसने ईसाई मत की त्रिदेव-कल्पना पर अविश्वास प्रकट किया था। पर इन दोषो के रहते हुए भी ईसाई मत के संस्कार द्वारा बड़ा काम हुआ। पोपो का भय हट जाने से लोगो की बुद्धि बंधनमुक्त होगई और अनेक विषयोपर स्वतंत्र विचार प्रकट किए जाने लगे। दर्शन और विज्ञान की उन्नति का रास्ता खुल गया और थोड़े ही दिनो में उस नवीन युग का आरंभ होगया जो 'विज्ञानयुग' कहलाता है।

आजकल का नाममात्र का ईसाई मत।

अठारहवीं शताब्दी के आरंभ ही से विद्या के विविध अंगो की उन्नति आरंभ हुई। प्रकृति के अनेक विभागों की छानबीन मे लोग अग्रसर हुए। १९ वीं शताब्दी ने तो ज्ञान के अनेक नए क्षेत्र खोल दिए। अंगविच्छेद-शास्त्र की सहा-

यता से भिन्न भिन्न जंतुओ की शरीररचना का मिलान किया गया। भिन्न भिन्न-जीवो की उत्पत्ति किस क्रम से हुई इसके निर्धारित हो जाने पर मनुष्य की उत्पत्ति का सिद्धांत स्थिर किया गया। सन् १८३८ मे शरीरसंयोजक घटकों का पता लग जाने से यह प्रत्यक्ष होगया कि सब प्राणियो के शरीर इन्हीं घटको या जीवाणुओ की व्यवस्थित योजना से बने हैं। भौतिक कारणों से ही पृथ्वी की उत्पत्ति सिद्ध हो गई। द्रव्य और शक्ति की अक्षरता के सिद्धांत द्वारा सृष्टि के समस्त व्यापारो की व्याख्या की गई। लोको की उत्पत्ति और लयका व्यापार नित्य स्थिर किया गया। अंत मे डारविन ने अपने विकाश-सिद्धांत द्वारा सजीव सृष्टि में होनेवाले व्यापारो का समाधान भौतिक रीति से करके इन सब का एक मे समाहार कर दिया।

अब देखना चाहिए कि विज्ञान की इस अपूर्व उन्नति के आगे आधुनिक ईसाई मत की स्थिति क्या है? ईसाई मत की बाते तो वैज्ञानिक अनुसंधान से सर्वथा असंगत और निःसार प्रमाणित हुई। इससे रोमक संप्रदाय ने तो हताश होकर अपना कट्टरपन और भी अधिक बढ़ा दिया। वह अब तक अपने अधविश्वासो का समर्थन तथा दिन दिन बढ़ते हुए विज्ञान का विरोध तन मन से करता चला जा रहा है। रहा संस्कारप्राप्त (प्रोटेस्टांट) उदार ईसाई मत, उसने सर्वात्मवाद या अद्वैतवाद की शरण ली और विरोधो के परिहार की नाना युक्तियाँ ढूँढ़ने मे लगा। वैज्ञानिक अन्वेषणो द्वारा जो प्राकृतिक नियम स्थिर हुए और उन नियमो

को लेकर जो दार्शनिक तत्व निरूपित हुए उनके साथ वे ऐसी परिमार्जित धर्मभावना का अविरोध दिखाने मे तत्पर हुए जिसमे अन्य मतो से भिन्न कोई विशेष लक्षण ही न रह गया। सामान्य धर्म (जिसे हम ईसाई या इसलाम किसी एक नाम से नहीं पुकार सकते) ही को लेकर यह भी ठीक वह भी ठीकवाला वितंडावाद कुछ चल सकता था अतः उसी को उन्होने ग्रहण किया। पर यह बात लोगों पर अच्छी तरह खुल गई है कि जिसे हम ईसाई मत कहते हैं उसका प्रत्येक आधार खडित हो गया, अब केवल उसकी सदाचार सबधिनी बातो को ही लोग स्वीकार कर सकते हैं। लोगो के विचारो मे तो इस प्रकार का परिवर्त्तन हुआ पर आधुनिक राज्यो मे ईसाई मत के ऊपरी आडंबर ज्यो के त्यों बने हुए हैं जिसके कारण शिक्षितों के बीच ईसाई मत मिथ्याडंबर के रूप मे पाया जाता है। अब सभ्य देशो में ईसाई मत एक कृत्रिम और दिखाऊ रीति रस्म के ही रूप मे रह गया है। भीतर भीतर तो आधुनिक विद्याओ के प्रभाव से लोगो के विचार बिल्कुल बदल गए हैं पर ऊपर से दिखाने के लिए वे अपने को ईसाई मत के अनुयायी प्रकट किया करते हैं। यह पाखंड या कपटधर्म समाज के लिए अनिष्टकर है। यह मिथ्या व्यवहार बहुत दिनों तक चल नहीं सकता।

इधर यह कृत्रिम ईसाई मत इतना ढीला है कि इससे ज्ञानार्जन मे किसी प्रकार की बाधा अब नहीं पड़ती है। उधर रोमक संप्रदाय ने ज्ञान का जो खुल्लमखुल्ला विरोध आरंभ किया उससे शिक्षितो मे बड़ी खलबली मची और उन

पर उसका कुछ भी प्रभाव न रह गया। १८५४ मे पोप ने मरियम की निर्दोष भावना के सिद्धांत * की घोषणा की। १८६४ मे पोप की ओर से जो धर्माज्ञा निकली उसमे जितने वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धांत निकले थे उन सब की निंदा की गई और उनका मानना धार्मिको के लिए पाप ठहराया गया। ६ वर्ष पीछे पोप ने मूर्खता की हद कर दी और यह घोषणा प्रचलित की कि पोप दोष और भ्रम से परे है—उसके कार्य्य मे कभी दोष और भ्रम हो ही नही सकता। वर्त्तमान समय मे ऐसी ऐसी घोषणाओं का शिक्षित समुदाय पर क्या प्रभाव पड़ सकता है यह समझने की बात है।

अब रही अप्राकृतिक रीति से कुमारी मरियम के गर्भ से ईसा के जन्मवाली कथा। जो भिन्न भिन्न मतो की पौराणिक कथाओं से परिचित है वे अच्छी तरह जानते है कि इस प्रकार की जन्मकथाएँ ईसा के जन्म से बहुत पहले से प्राचीन जातियो में प्रचलित थी। हिन्दूधर्म, बौद्धधर्म, पारसीधर्म, सब मे ऐसी कथाएँ पाई जाती हैं। जब किसी राजा

---

* ईसाइयों के सिद्धांत के अनुसार पाप आदि ही से मनुष्य जाति के साथ लगा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य पाप के साथ उत्पन्न होता है। ईसा की माता मरियम ही पाप से सर्वथा निर्लिप्त उत्पन्न हुई। युक्ति पूर्वक विचार किया जाय तो पाप के साथ उत्पन्न होना और पाप से सर्वथा निर्लिप्त होना ये दोनों बातें कपोलकल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

या बड़े आदमी की कोई कन्या कुमारिकावस्था में ही गर्भवती होजाती थी तब इस बात का प्रचार किया जाता था कि उसे किसी देवता (जैसे सूर्य्य, इन्द्र आदि) से गर्भ रहा। ईसाइयो ने भी इसी प्रकार की कथा गढ़ी और ईसा की उत्पत्ति पवित्रात्मा से बतलाने लगे। इस प्रकार के 'देवपुत्र' प्रायः बड़े प्रतापी, यशस्वी और बुद्धिमान हुआ करते थे। यवन (यूनानी) और रोमक (रोमन) लोगो की प्राचीन कथाओं मे इस प्रकार के देवपुत्रो के बहुत से वृत्तात हैं।

पवित्रात्माद्वारा कुमारी मरियम के गर्भाधान की जो कथा है उस पर थोड़ा विचार आवश्यक है। बाइबिल की केवल दो पोथियो (मत्ती और लूक) मे इस कथा का उल्लेख पाया जाता है। पर इन दोनो पोथियो में शेष पोथियो के अनुकूल यह भी लिखा है कि मरियम की मँगनी यूसफ नाम के बढ़ई के साथ हो चुकी थी पर संयोग के पूर्व ही पवित्रात्मा द्वारा मरियम गर्भवती हो गई। पर जैसा पहले कहा जा चुका है ये चारो पोथियाँ (सुसमाचार) ढेर की ढेर पोथियों मे से अधिक प्रामाणिक समझी जाकर चुन ली गई थीं। शेष पोथियाँ अत्यंत अधिक असंबद्ध बातो और असंभव, वृत्तान्तो के कारण प्रक्षिप्त और अग्राह्य मानी गईं जैसे, जेम्स, टामस, और निकोडेमस रचित सुसमाचार। पर उनमे कई ऐसी है जो चार गृहीत सुसमाचारों से प्राचीनता मे कम नहीं है। अत ऐतिहासिक दृष्टि से जैसे ये चार सुसमाचार वैसी ही वे अगृहीत पोथियाँ जिन्हे प्रक्षिप्त बतलाकर लोगो ने अलग कर दिया है। उन अगृहीत पुस्तको

में से निकोडेमस रचित सुसमाचार है जिसका ईसा से सौ डेढ़ सौ वर्ष वाद लिखा जाना विद्वानो ने निश्चित किया है। उसमे लिखा है कि यहूदियो ने ईसा पर व्यभिचार से उत्पन्न होने का दोष लगाया था। इस वात का समर्थन सेल्सस नामक एक यूनानी लेखक ने भी किया है जो ईसा की दूसरी शताब्दी में (अर्थात् निकोडेमस की पोथी लिखे जाने के थोड़े ही आगे पीछे) हुआ था। उसने लिखा है कि ईसा की माता को यूसफ नाम के वढ़ई ने तिलाक देकर इस लिए छोड़ दिया था कि उस पर व्यभिचार का अभियोग लगाया गया था और पांथरास नामक एक सैनिक से उसे एक लड़का पैदा हुआ था। यह कथा यहूदियो के यहाँ भी पाई जाती है कि रोमन सेना के एक अफसर और मरियम के अनुचित संवंध से ईसा की उत्पत्ति हुई।

पर वाइविलसंवधी अनुसधान करनेवाले अधिकांश विद्वानो ने ईसा को उस वढ़ई का पुत्र मानना ही अधिक उपयुक्त ठहराया है। कई देशो मे यूसफ और मरियम की विवाह के पूर्व की प्रेमलीला वड़ी भावभक्ति के साथ कही सुनी जाती है। पवित्रात्मा वाली अप्राकृतिक कथा का अव विद्वानो मे आदर नहीं रहा है। अत. जव इस अप्राकृतिक कल्पना का परित्याग होही रहा है तव इसका पता लगा तो क्या, न लगा तो क्या कि ईसा का वाप यथार्थ में था कौन। वाइविल में औदार्य्य, दया, परोपकार और प्रेमभाव आदि के जो धर्मोपदेश हैं वे इन अप्राकृतिक और असंगत कल्पनाओ के आधार के विना भी ज्यो के त्यो मान्य वने रह सकते हैं।

यह मानने की आवश्यकता नही है कि वे ईश्वर द्वारा कहे गए या आभास के रूप मे प्रकट किए गए। इस प्रकार की बातें विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धांतो के सर्वथा विरुद्ध पड़ती है।

आठवाँ प्रकरण

ज्ञानतत्त्वोपासना वा तत्त्वाद्वैत-दृष्टि से उपासनाकांड

आज कल के बहुत से वैज्ञानिक और दार्शनिक यह कहने लगे हैं कि मत या मजहब (जैसे ईसाई, इसलाम) की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई। उनके इस कथन का अभिप्राय यह है कि विज्ञान की अपूर्व उन्नति से जगद्विकाश के जो नाना रहस्य खुल पड़े हैं उनसे केवल हमारी बुद्धि ही तुष्ट न होगी बल्कि भक्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि वृत्तियां भी जाग्रत होगी। सारांश यह कि यदि हमें सम्यक् तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाय तो उसमे ज्ञानकांड और उपासनाकांड दोनों का मेल हो जाता है। पर बड़े दुःख की बात है कि इस प्रकार की तत्त्वदृष्टि बहुत ही कम लोगो को प्राप्त होती है। अधिकांश शिक्षितो की यही धारणा रहती है कि मत-विश्वास एक और ही चीज है जिसका ज्ञान से कोई संबध नही। वे कहते हैं कि मज़हब मे अक़्ल का दख़ल नही। पर अब ऐसा कहना ठीक नहीं। विज्ञान की आधुनिक उन्नति से हमें जो नए नए तर्क और नई नई युक्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे तो हमारे मन मे अवश्य रहेगी पर उनके साथही साथ हमारे अतःकरण को श्रद्धा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियो के लिए यथेष्ट सामग्री भी प्राप्त होगी, अतः हमारा भावुकता में किसी प्रकार की कमी न होने पाएगी। अतर इतना ही होगा कि हमारी श्रद्धा भक्ति

आदि वेगवती वृत्तियो के लिए, हमारी भावुकता के लिए, जो सामग्री अप्राकृतिक और असत्य कल्पनाओ के द्वारा उपस्थित की गई थी उनके स्थानपर अब सत्य वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा प्राप्तसामग्री होगी।

आधुनिक विज्ञान ने अंधविश्वास की बातो का खडन तो कर डाला; अब उसको चाहिए कि वह मनुष्य की श्रद्धाभक्ति के लिए एक भव्य ज्ञानमदिर खड़ा करे जिसमे तत्त्वदृष्टि प्राप्त कर के लोग सत्य, सत्त्व और रजस् (सौन्दर्य्य) इन तीन देवताओं की उपासना करे। इस दिव्य भाव की प्राप्ति के लिए यह देख लेना आवश्यक है कि प्रचलित मत मतान्तरो की कौन्र कौन सी बाते हमे रखनी होगी और कौन छोड़नी होगी। हज़ारो वषो से जिन मतो का अधिकार मनुष्य जाति के हृदय पर चला आरहा है उनकी शील और सदाचार संबधिनी बातो को हम नहीं छोड़ सकते, उनका महत्त्व हम कभी अस्वीकार नहीं कर सकते। अत हमे चाहिए कि इन मतो मे जो सदाचार-तत्त्व है उसी पर अपना आग्रह प्रकट करे-उसी पर दृष्टि रखने के लिए भिन्न भिन्न मतो और संप्रदायो से अनुरोध करें। इसी रीति का अवलंबन करने से आधुनिक ज्ञानमूलक धर्म की स्थापना सुगम होगी। हमें अपने धार्मिक जीवन मे विप्लव नहीं उपस्थित करना है, सस्कार करना है। जिस प्रकार प्राचीन सभ्य जातियाँ आदर्श के लिए भिन्न भिन्न सद्गुणों की मूर्त्त भावना करती थी उसी प्रकार हमे भी चाहिए कि हम सत्य, सत्व और रजस (सौदर्य्य) को देवरूप मे ग्रहण करे।

(१) पहले सत्य को लीजिए। जो कुछ पीछे कहा जा

चुका है उससे यह दृढ़ हो गया कि विशुद्ध सत्य प्रकृति ही के भीतर साधनापूर्वक ढूढ़ने से मिल सकता है और इस साधना के दो ही मार्ग हैं—सूक्ष्म अन्वीक्षण और चिंतन। पहले प्रकृति मे जो व्यापार वास्तव मे होते है उनका एक एक करके पता लगाना चाहिए फिर उनके कारणो का खूब मनन करना चाहिए। इसी रीति से हम शुद्ध बुद्धि के बल से उस सत्य ज्ञान वा विज्ञान तक पहुंच सकते है जो मनुष्य की सब से बड़ी संपत्ति है। हमें 'ईश्वराभास' 'दैवी प्रेरणा' आदि बातो का एकदम परित्याग करना होगा क्योकि उनका मतलब यह है कि ज्ञान प्राप्ति के जो दो मार्ग ऊपर बतलाए गए है केवल उन्ही से नहीं बल्कि बिना बुद्धि के प्रयास के आसमान से भी ज्ञान टपक सकता है *। अब यह बात पूर्णतया स्थिर हो गई है कि ज्ञान अप्राकृतिक या अलौकिक रीति से न कभी किसी को प्राप्त हुआ है और न हो सकता है। प्रकृति का मंदिर ही सत्यदेव का निवास-स्थान है। वे हरे भरे जंगलो, नीलाभ समुद्रो और तुषार-मंडित गिरिशृंगो मे रहते हैं, मंदिरो, मसजिदों और गिरिजों के अंधेरे कोने में नहीं। सत्य और ज्ञानरूप देवताओ की प्राप्ति के लिए हमें प्रकृति से प्रेम करना चाहिए और उसके नियमों का मनन करना चाहिए। ज्ञानतत्त्वोपासना के लिए हमें अपार और अनत नक्षत्रो और लोको की दूरबीनोंद्वारा

---

* किसी देवी देवता के प्रसाद से किसी मूर्ख का एकबारगी भारी कवि या पंडित हो जाना इसी प्रकार की बात है।

और सूक्ष्म घटक या अणुजगत् की सूक्ष्मदर्शक यंत्रोंद्वारा छानबीन करनी होगी, कर्मकांड के निरर्थक विधानों तथा पूजा की लंबी चौड़ी पद्धतियों की कोई आवश्यकता न होगी। सत्यदेव के प्रसाद से हमें ज्ञानवृक्ष के विशद फल प्राप्त होंगे जिनसे हमारी दृष्टि स्वच्छ हो जायगी और हम जगत् के नाना रहस्यों का आनंद ले सकेंगे।

(२) सत्व या सात्विकशीलता के संबंध में हमें उतना उलटफेर करने की आवश्यकता न होगी जितना सत्य के संबंध में करना पड़ेगा। सत्य की स्थापना के लिए हमें 'ईश्वराभास' 'आकाशवाणी' 'इलहाम' इत्यादि को कपोलकल्पना कहकर एक दम किनारे कर देना होगा, पर सद्गुण या सात्विकशीलता के संबंध में प्रचलित मतों में हमारा कोई विरोध न होगा। ईसाई धर्म को ही लीजिए। उसमें वदान्यता, उदारता, दया, दैन्य और परोपकार के जो भाव हैं वे सब को समान रूप से मान्य हैं। हमारे ज्ञानमूलक धर्म में भी उनका वही स्थान रहेगा। सदाचार के वे तत्व संसार के सब सभ्य मतों में हैं, अकेले ईसाई मत में नहीं। अस्तु ईसाई लोग अन्य मतावलंबियों को अपने मत में लाने का क्यों प्रयत्न किया करते हैं समझ में नहीं आता। एक विषय में ईसाई मत एकांगदर्शी है *। कर्माकर्म की व्यवस्था में, सदाचार के नियम में, यह मत परार्थ ही पर ज्यादा ज़ोर

---

* जैन आदि अन्य वैराग्यप्रधान धर्म भी इसी प्रकार के कहे जा सकते हैं।

देता है स्वार्थ का एकदम निषेध करता है। हमारा ज्ञान-मूलक धर्म दोनोपर समान दृष्टि रक्खेगा। वह स्वोपकार और परोपकार दोनों का पलड़ा ठीक रखने का उपदेश देता है।

(३) जिससे हमारी प्रकृति का अनुरंजन हो उसे रजस् या सौंदर्य्य कहना चाहिए। सौंदर्य्य के संबंध मे हमारे तत्वाद्वैतधर्म का वैराग्यप्रधान मतों से बड़ा भारी विरोध है। ये मत सांसारिक जीवन को सर्वथा असार समझते हैं, उसे केवल परलोक की तैयारी के लिए समझते है। अतः मनुष्य के जीवन की जो बाते है, प्रकृति, विज्ञान और कलाकौशल मे जो कुछ सौंदर्य्य हम देखते है वह सब उन मतों की दृष्टि में निरर्थक है। सच्चे धार्मिक को इन सब से दूर रहना चाहिए, उसे केवल परलोक की चिंता मे रहना चाहिए। प्रकृति से घृणा, उसकी नाना शोभाओं से विरक्ति, सुंदर कलाओं से कुरुचि ये सब धर्म के अंग है। ये अंग यहाँ तक पूर्णता को पहुँचाए जाते है कि लोग स्ववर्गियो से अलग जा कर रहते हैं शरीर को नाना प्रकार के क्लेश देते है, मढ़ियों और कुटियों में पड़े पडे अपना समय नाम जपने और भजन गाने में बिताते है।

जिस उद्देश्य से प्रकृति का यह तिरस्कार किया गया वह सिद्ध भी नहीं हुआ। इतिहास इस बात का साक्षी है। सन्यास आश्रम इस लिए निकाला गया था कि कुछ लोग विषय वासनाओं से निर्लिप्त रह कर यम, नियम और पवित्रता के आदर्श बनेंगे। पर हुआ इसका उलटा। मढ़ियो के स्थान पर साधुओं के बड़े बड़े मठ खड़े हो गए जिनमे ऐसी ऐसी

व्यभिचार लीलाएँ होने लगीं जिनका बेचारे गृहस्थ अनुमान तक नहीं कर सकते। बड़े बड़े मठधारी महन्तों के धनवैभव और भोगविलास को देख बड़े बड़े राजा दंग रहने लगे। लोग कहेंगे कि ईसाई, जैन, बौद्ध, शैव आदि मत वैराग्य-प्रधान है पर उनके द्वारा कलाकौशल की कितनी उन्नति हुई है, उनके अनुयायिओ ने कैसे सुंदर सुंदर मंदिर, गिरजे आदि बनवाए है। यह ठीक है, पर उन मतों की शिक्षा से सुंदर रचनाओ से क्या संबंध ? इनका निर्माण तो उनकी शिक्षाओ से स्वतंत्र हुआ है। कहाँ उनकी शिक्षा कि इस संसार के आमोद प्रमोद से दूर रहो, इस जीवन के भौतिक सौंदर्य्य पर मत भूलो, स्त्रियोंके प्रेमजाल में न फँसो, धन, परिजन आदि सब को माया समझो, कहाँ मंदिरो और गिरजो का ठाटबाट, महंतों और धर्माचार्य्यों की धूमधाम की सवारियाँ! कैथलिक सम्प्रदाय के गिरजो तथा और दूसरे मतों के मंदिरो की चित्रकारियाँ होती कैसी हैं ? इन गिरजो को जाकर देखिये तो उनमे ईसा, मरियम और महात्माओ की अलौकिक भावनापूर्ण प्रतिमाएँ मिलेगी, उनके अप्राकृतिक चरित्र अंकित पाए जायँगे। मंदिरों को देखिए तो उनमें कहीं बौद्ध जातको-की कल्पित कहानियाँ चित्रित मिलेगी, कही कई सिर पैर वाले देवताओ की मूर्तियाँ सामने आएँगी। इन चित्रकारियो का प्रभाव भी जनता पर विलक्षण पड़ता आया है। जनसाधारण के चित्त पर यह संस्कार बराबर जमता रहा कि जिस रूप के देवी देवता है वैसे कभी रहे हैं और जो अलौकिक बाते चित्र-कारियों मे दिखाई गई है वे वास्तव मे कभी हुई हैं।

मतो और संप्रदायों के आश्रय से कलाकौशल को जो रूप प्राप्त हुआ है उस से कलाकौशल की वह नई प्रवृत्ति जो आजकल विज्ञान के संबंध से जाग्रत हुई है सर्वथा विरुद्ध है। विज्ञानद्वारा प्रकृति के क्षेत्र मे हमारी दृष्टि का जो विस्तार बढ़ गया है और हमें जीवो और पदार्थों के असंख्य रूपो का जो पता लगा है उससे हमारे अंतःकरण में सौंदर्य्य के नए नए भावों का उदय हुआ है और चित्रकारी तथा शिल्पविद्या को नई उत्तेजना प्राप्त हुई है। पृथ्वी के नाना प्रदेशो, द्वीपो और खंडो की जो छानवीन हुई है उससे नए नए प्रकार के असंख्य जीव—विशेषतः छोटे जीव जिनकी ओर पहले किसी का ध्यान तक नही गया था—मिले है जिनके मनोहर रूप रंग को लेकर वहुत सुदर चित्रकारी और कारीगरी हो सकती है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र ने हमे सूक्ष्म कीटाणुओ की—विशेषत. जल कीटाणुओ की—एक नई दुनियाँ दिखा दी है। सहस्रो प्रकार के चित्र विचित्र समुद्री जीव—मूँगे, छत्रक, शुक्तियाँ, केकड़े इत्यादि—हमे देखने को मिले हैं जिनके सौदर्य्य और आकृतिभेद के सामने मनुष्यो की कल्पना झख मारे। जंतु विज्ञान और उद्भिद्विज्ञान की कोई वड़ी सचित्र पुस्तक खोल कर देखिए, इस बात का निश्चय हो जायगा।

आधुनिक विज्ञान ने हमे सूक्ष्म जगत् की ही सैर नही कराई है बल्कि प्रकृति के विशाल पदार्थों का भी अधिक परिचय कराया है। एक समय था जब हिमालय ऐसे पर्वतो और पर्वताकार तरंग वाले समुद्रो को लोग भय की दृष्टि से देखते थे। अब विज्ञान ने ऐसे सुबीते कर दिए है कि साधारण वित्त के

मनुष्य भी ऊँचे ऊँचे पर्वतों पर जाकर हिमप्रपातों के निकट महीनों रह सकते हैं और वहाँ के विशाल और मनोहर दृश्यों का आनंद ले सकते है, तथा समुद्र के अपार वक्षस्थल पर निर्भय विचरण करते हुए नीलाबुराशि की क्रीड़ा का अवलोकन कर सकते हैं। आज कल जिस प्रकार प्रकृति के नाना रहस्यों के परिज्ञान के साधन सुलभ हो गए हैं उसी प्रकार उसके असीम सौन्दर्य्य के उपभोग के भी। इसी अवस्था में हमारे अंतःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियाँ परिपुष्ट हो सकती हैं और तत्वाद्वैतधर्म का भाव दृढ हो सकता है।

वर्त्तमान काल की चित्रकारी को देखने से इस बात का अच्छा प्रमाण मिल सकता है। पुराने समय में जो चित्र बनते थे वे अधिकतर मनुष्य या कुछ थोड़े से जंतुओं के ही होते थे। अब वन, नदी, पर्वत, समुद्रतट आदि नाना प्राकृतिक पदार्थों के सुंदर सुंदर चित्र देखने को मिलते हैं। न जाने कितने मासिकपत्र चित्रों के ही निकलते है जिनमें अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्य अंकित रहते है। प्राकृतिक दृश्यांकन मे आजकल बड़ी उन्नति हुई है। इन दृश्यों के द्वारा प्रकृति से हमारा प्रेम बढ़ता है और उसके रहस्यो के जानने की उत्कंठा उत्पन्न होती है। इस प्रकार के चित्र शिक्षा के अच्छे साधन हैं। बच्चों मे इनकी ओर अभिरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। प्रकृति अनंत सौंदर्य्य का भांडार है। उसके सौंदर्य्य का आनंद, उसके अविचल और नित्य नियमों से संबद्ध होने के कारण, ज्ञान विज्ञान का उत्तेजक है। इस आनंदानुभव की उत्कंठाद्वारा ज्ञान की ओर सच्ची प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति

मार्ग ज्ञान का सच्चा मार्ग है। जिस विस्मय के साथ हम तारकित गगनमंडल को और एक जलबिंदु के भीतर की सजीव सृष्टि को देखते हैं, जिस स्तब्धता के साथ द्रव्य की नाना गतियो मे उसकी शक्ति की क्रीड़ा का परिचय पाते है, जिस पूज्य भाव से 'परमतत्व की अक्षरता' के नियम की विश्वव्यापकता का अनुभव करते हैं—वह विस्मय, वह स्तब्धता और वह पूज्यभाव सब के सब हमारी धर्मभावना के ही अग हैं। ये ही धर्म के सच्चे आवेश हैं। इन सच्चे आवेशों द्वारा प्रेरित धर्म हमारा "प्रकृत धर्म" है।

प्रकृत सत्य का बोध और प्रकृत सौन्दर्य का उपभोग दोनो हमारे तत्त्वाद्वैत धर्म के अंग हैं। ईसाई आदि वैराग्य-प्रधान मतों से इन दोनों अंगों का विरोध प्रत्यक्ष है। ये दोनो अंग ऐहिक हैं—इसी लोक से संबंध रखनेवाले हैं। पर ईसाई आदि मत सदा परलोक ही की ओर ध्यान रखने का उपदेश देते है। तत्त्वाद्वैत धर्म बतलाता है कि हम लोग इस पृथ्वी पर के मर्त्य जीव हैं जो कुछ काल तक इसके नाना पदार्थों का उपभोग कर सकते, इसके सौदर्य का आनंद ले सकते और इसकी अद्भुत शक्तियो की क्रीड़ा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ईसाई आदि मत कहते हैं कि यह संसार दु:ख का समुद्र है जिसमें हम अल्प काल तक के लिए इस कारण डाल दिए गए हैं कि नाना प्रकार के क्लेशो द्वारा अपनी आत्माओ को शुद्ध करें जिससे परलोक मे अनंत सुख के अधिकारी हों। यह परलोक कहाँ है? इसका सुख किस प्रकार का है? यह सब ये मत कुछ भी नहीं बतलाते। जब

तक लोग पृथ्वी के ऊपर असंख्य नक्षत्रों से दीप्त नीलमंडल को ही स्वर्गधाम समझते थे तब तक तो उनकी कल्पना में यह बात किसी प्रकार आ सकती थी कि वहाँ देवता लोग नित्य विहार किया करते हैं। पर अब ये सब देवता और अमर जीव बिना ठौर ठिकाने के हो गए हैं; क्यों कि अब यह बात ज्योतिर्विज्ञान द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट हो गई है कि इस नीलमंडल में उस ईथर या आकाशद्रव्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जिसमें असंख्य लोकपिंड बनते और बिगडते हुए चक्कर मार रहे हैं।

वे स्थान जहाँ लोग अपनी धर्मभावनाओं की पुष्टि और ईश्वर या देवता की उपासना के लिए जाते है अत्यंत पवित्र माने जाते हैं और 'मंदिर', 'मसजिद' या 'गिरजे' कहलाते है। उनमें जाकर लोग जीवन के झझट और हाय हाय को भूल एक उच्च भावमय जगत् में प्रवेश कर के शान्ति पाते हैं। वर्त्तमान शताब्दी के 'कला और विज्ञानसंपन्न' शिक्षित मनुष्य को इस बात के लिये दीवारों से घिरे हुए किसी संकीर्ण स्थान की आवश्यकता न होगी। उसके लिये संपूर्ण प्रकृति का पवित्र क्षेत्र खुला हुआ है। वह जिधर आँख उठा कर देखेगा उधर उसे 'जीवन की हाय हाय' तो मिलेगी पर उसके साथ ही साथ सर्वत्र 'सत्य, सत्त्व और सौंदर्य' की शान्तिदायिनी दिव्य प्रभा का भी साक्षात्कार होगा।

———

नवाँ प्रकरण

तत्त्वाद्वैतदृष्टि से धर्म या कर्माकर्मव्यवस्था *

जीवन के व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य के कुछ कर्त्तव्य होते हैं जो तभी पूरे हो सकते हैं जब कि वे उसके जगत्संबंधी सिद्धांत के अनुकूल हों। इस सिद्धांत के अनुसार हमारी कर्माकर्म व्यवस्था उस अद्वैत भाव के अनुकूल होनी चाहिए जो प्राकृतिक नियमों के समुन्नत ज्ञान द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार हम इस अनंत विश्व को एक अखिल अद्वितीय सत्ता या समष्टि मानते हैं उसी प्रकार मनुष्य के आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन को भी उसी विश्वविधान का एक अंग मानते हैं। आध्यात्मिक और भौतिक दो अलग अलग जगत् नहीं हैं।

पर अधिकांश दार्शनिकों और धर्ममीमांसकों का मत इसके विरुद्ध है। जैसे कांट ने कहा है वैसे ही वे भी कहते हैं कि धार्मिक और आध्यात्मिक जगत् भौतिक जगत् से सर्वथा अलग और स्वतंत्र है अतः मनुष्य की सदसद्विवेक बुद्धि भी उस ज्ञान से

---

* धर्म से अभिप्राय आचरण पर शासन रखनेवाले नियमों से है, मत या मजहब से नहीं। मनु ने धर्म के दस मूल लक्षण बतलाए हैं—

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

इस लक्षण में स्वार्थ (धृति, शौच, दम), परार्थ (क्षमा, अक्रोध, सत्य) दोनों आ गए हैं।

सर्वथा स्वतंत्र है जो विज्ञान द्वारा जगत् के संबंध मे हमे प्राप्त होता है। सदसद्विवेकबुद्धि अपने मत के विश्वास पर अवलंबित होती है। कांट के अनुसार सदसद्विवेक का आभास व्यवसायात्मिका बुद्धि को होता है शुद्ध बुद्धि को नही जिससे भौतिक या दृश्य जगत् का बोध होता है, जिससे चिंतन तर्क और अनुमान आदि किए जाते है। ज्ञान की यह द्वैध भावना कांट के दर्शन का भारी दोष है। इससे अनेक प्रकार के भ्रम फैले हैं। पहले तो काट ने 'शुद्ध बुद्धि' का एक अपूर्व और विशाल भवन खड़ा कर के अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि उसमे ईश्वर (पुरुष विशेष) तथा स्वतंत्र और अमर आत्मा के लिए कोई स्थान नही है—उनकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है। पीछे उसने भी प्रमाणहीन कल्पना का सहारा लिया और 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का एक दूसरा हवाई महल खड़ा कर के उसमे इन कल्पित वस्तुओ के लिए जगह की।

विश्वास के आधार पर स्थित इस भवन मे उसने 'कर्माकर्म की व्यवस्था' प्रतिष्ठित की। इस व्यवस्था के अनुसार सद्सत्संबधी व्यापक नियम सर्वथा स्वतंत्र और स्वतः प्रमाण हैं-वे और किसी वस्तु की प्रामाणिकता पर निर्भर नही। भौतिक या दृश्य जगत् में जो नियम दिखाई पड़ते हैं उनके द्वारा उनका समाधान नही हो सकता। वे चिन्मय जगत् के अंतर्गत हैं। वे आत्मानुभूति के नियमो मे दाखिल हैं—अर्थात् किसी कर्म के उपस्थित होने पर आत्मा उसके भले या बुरे होने के संबंध मे अपनी स्थिति का आप जो बोध

करती है वह सदा एक ही प्रकार का होता है । इसी आदेश पर चलना धर्म या सदाचार है । कांट का सिद्धांत यदि ठीक माने तो संसार के सब मनुष्यों में एक ही प्रकार की कर्त्तव्य-बुद्धि होनी चाहिए । पर इधर जो पृथ्वी पर की भिन्न भिन्न जातियों का अनुसंधान किया गया है उससे यह बात पाई नहीं जाती । अनुसंधान से यही पाया जाता है कि भिन्न भिन्न जातियों में, विशेषतः असभ्य जातियों मे, कर्त्तव्य की भावनाएँ भिन्न भिन्न हैं । वे कर्म और रीति रवाज जिन्हें हम घोर पाप और अपराध समझते है कुछ जातियो द्वारा कुछ अवस्थाओं मे धर्म और कर्त्तव्य माने जाते है ।

कांट ने बुद्धि के जो दो परस्पर विरुद्ध भेद किए उसका खंडन यद्यपि पीछे से लोगो ने किया पर उसे बहुत से लोग अभी तक मानते जाते हैं । बात यह है कि उससे मतवादियो और ख्याली पुलाव पकानेवालो की निराधार कल्पनाओं को बहुत कुछ सहारा मिला है । इसी से यह द्वैधभाव उन्हे अत्यत प्रिय है । पर कांट ने 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का जो आडंबर खड़ा किया था उसे आधुनिक विज्ञान ने छिन्न भिन्न कर दिया है । परमतत्व की अक्षरता के नियम द्वारा जगद्विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि कोई पुरुष विशेष रूप ईश्वर नहीं है । भिन्न भिन्न जतुओ के मनोव्यापारो के मिलान और अंतःकरण के क्रमागत विकाश के निरीक्षण द्वारा जिस आधुनिक मनोविज्ञान की स्थापना हुई है उसने प्रमाणित कर दिया है कि अमर आत्मा कोई वस्तु नहीं । शरीर-व्यापार-शास्त्र द्वारा "कर्म-सङ्कल्पवृत्ति" के स्वातंत्र्य का भी खंडन होगया है । विकाश-

सिद्धांत से यह अच्छी तरह स्थिर होगया है कि प्रकृति के उन्हीं अविचल या शाश्वत नियमों के अधीन सजीव सृष्टि तथा उसके धर्म आदि सब व्यापार भी हैं जिनके अधीन जड़सृष्टि है। अस्तु, मनुष्य तथा उसका कोई व्यापार (क्या मानसिक, क्या धर्म और आचारसंबंधी) उन नियमो के परे नहीं हैं।

आधुनिक विज्ञान ने कांट के द्वैधभाव का खंडन ही नहीं किया है उसके स्थान पर सच्ची कर्त्तव्याकर्त्तव्य व्यवस्था भी स्थापित की है। इस व्यवस्था के अनुसार कर्त्तव्यबुद्धि कल्पना के आधार पर स्थित नही है बल्कि 'सामाजिक प्रवृत्ति' पर निर्भर है जो समुदाय मे रहनेवाले सब जंतुओ मे पाई जाती है। धर्म या सदाचार का सब से बड़ा उद्देश्य यह है कि स्वार्थ और परार्थ के बीच सामंजस्य स्थापित हो–दोनो के पलड़े इस प्रकार तुले रहे कि व्यवहार मे किसी प्रकार की बाधा न पड़े, अपनी भलाई और दूसरे की भलाई दोनो का साधन बराबर होता जाय, दोनो के बीच विरोध न आने पावे। प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर ने विकाश सिद्धांत की दृढ़ नींव पर इस प्रकार की तात्त्विक कर्त्तव्याकर्त्तव्य व्यवस्था स्थापित की है *। मनुष्य समुदाय में रहनेवाला प्राणी है

---

* पाश्चात्य दर्शन में कर्त्तव्याकर्त्तव्य शास्त्र के संबंध में कई प्रकार के सिद्धात पाए जाते हैं—जैसे (Intutional theory) 'विवेकबुद्धिवाद' जो सदसत् का भेद करनेवाली बुद्धि को स्वभावसिद्ध मानता है, प्रेरणावाद (Sentimental or Emotional theory) जो कर्मों के प्रति स्वाभाविक रुचि और घृणा की प्रेरणा को सदसद्भेद का मूल बतलाता है सुखवाद (Utilitarian theory) जो समाज के लाभालाभ की दृष्टि से (अर्थात् किस कर्म से सब से अधिक लोगों के सब से अधिक सुख का साधन होता है) कर्माकर्म का निर्णय करता है। प्रथम दो सिद्धातो

अतः समुदाय में रहनेवाले और दूसरे जंतुओं के समान उसके दो प्रकार के कर्त्तव्य है—एक अपने प्रति दूसरा उस समाज के प्रति जिसमे वह रहता है। एक का साधन स्वार्थ कहलाता है दूसरे का परार्थ या परोपकार। मनुष्य के लिए दोनों उचित हैं। यदि मनुष्य को समाज में रहना है तो उसे केवल अपना ही भला न देखना चाहिए दूसरों का भला भी देखना चाहिए जिनके साथ उसे रहना है। उसे यह समझना चाहिए कि समाज के हित से उसका भी हित है। यदि समाज का कोई अनिष्ट होगा तो उस समाज मे रहने के कारण वह उस अनिष्ट से बच नहीं सकता। सिद्धांत रूप मे तो इसका खंडन कोई नहीं कर सकता पर इसके विरुद्ध व्यवहार लोग बराबर करते हैं।

'स्वार्थ' और 'परार्थ' दोनो पर समान दृष्टि रखना हमारे तत्त्वाद्वैत धर्म का मुख्य तत्व है। आत्मोपकार और परोपकार दोनों इस धर्म के अंतर्गत हैं। 'दूसरो के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो वे तुम्हारे साथ करें'—ईसाई धर्म की इस शिक्षा में यह बात स्पष्ट है कि हमारे लिए अपने प्रति भी वैसे ही पवित्र कर्त्तव्य हैं जैसे दूसरों के प्रति। ये युगपद् धर्म कुटुंब और समाज की रक्षा के लिए परम आवश्यक प्राकृतिक नियम हैं। आत्मभाव से व्यक्ति की

के अनुयायियों में ही कुछ आध्यात्मिक दृष्टि रखनेवाले दार्शनिक हुए हैं जो धर्म और आचार के नियमों को नित्य और स्वतंत्र मानते हैं। पर प्राय सब दार्शनिकों ने शब्दों पर ही तर्क वितर्क करके भारी वाग्जाल खड़ा किया है। पर जब से आधिभौतिक शास्त्रों के विविध अंगों की अपूर्व उन्नति होने लगी तब से विचार-पद्धति बदल गई। व्यवहार और समाज-विकाश की दृष्टि मे धर्म और और आचार की व्याख्या की गई।

रक्षा होती है और परार्थभाव से व्यक्तियों से बनी हुई जाति की। प्राणियों के समूहबद्ध होने के लिए उनमे एक प्रकार की समाजिक प्रवृत्ति सजीव सृष्टि की आदिम अवस्था मे ही उत्पन्न हुई। यह वंशपरंपरागत प्रवृत्ति समूह मे रहने-वाले छोटे बड़े सब जतुओं में पाई जाती है। विकाश-परंपरा-नुसार उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के जीवों की उत्पत्ति के साथ साथ यह प्रवृत्ति भी वृद्धि को प्राप्त होती गई। लोक के प्रति जो हमारे धर्म हैं वे इसी मूल प्रवृत्ति के उन्नत या प्रवर्द्धित रूप हैं जो धीरे धीरे वर्तमान अवस्था को पहुँचे हैं।

सभ्य मनुष्यों के बीच सदाचार संबंधी जो नियम पाए जाते हैं वे बहुत कुछ उनकी उस धारणा के अनुसार होते हैं जो जगत् के विषय मे होती है। अतः उन नियमों का संबंध मत या मज़हब से रहता है।

धर्म का मुख्य तत्त्व उस सिद्धांत मे है जिसे ईसाई लोग भी अपने मत की प्रधान शिक्षा मानते हैं। 'तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो दूसरे तुम्हारे साथ करें' इस कथन मे धर्म का संपूर्ण सार है पर यह बात भी समझ रखनी चाहिए कि इस धर्मतत्व की स्थापना ईसा के जन्म से हजारों वर्ष पहले प्राचीन सभ्य देशों मे हो चुकी थी। सब से पहले इस तत्व का निरूपण भारत * और चीन

* शरशय्या पर भीष्म ने जो उपदेश दिए हैं उनमें एक यह भी है—"जो अपने को अच्छा लगे उसे दूसरों के लिए भी अच्छा समझे और जो अपने को अप्रिय हो उसे दूसरों के लिए भी अप्रिय समझे।" बौद्ध धर्म में भी यह सिद्धांत कई जगह कहा गया है।

मे हुआ। ईसा से ५०० वर्ष पहले कनफूची ने (जो पुरुष विशेष ईश्वर और अमर आत्मा नही मानता था) उपदेश दिया था कि "हर एक आदमी के साथ वैसा कर जैसा तू चाहता है कि वह तेरे साथ करे, दूसरे के साथ वैसा कभी न कर जैसा कि तू चाहता है कि वह तेरे साथ न करे। तुझे एक-मात्र इसी उपदेश की आवश्यकता है।" इसी प्रकार यूनान के कई तत्वज्ञो ने इस सिद्धांत को प्रकट किया था। अरस्तूका कथन है कि "हमे दूसरो के साथ वैसा ही करना चाहिए जैसा हम चाहते है दूसरे हमारे साथ करे।" साराश यह कि ईसाई मत ने इस सिद्धात को भी अपने और सिद्धातो के समान, अपने से पूर्व के मतो से विशेषत वौद्धमत से, लिया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस सिद्धात का महत्व हमारा तत्वाद्वैत धर्म भी स्वीकार करता है, क्योकि इसमे स्वार्थ और परार्थ दोनों पर समान दृष्टि रखी गई है पर ईसाइयों की तथा और और मतो की पुस्तको मे बहुत से विरुद्ध वाक्य मिलते हैं जिनमे स्वार्थ का एक दम परित्याग करने को कहा गया है और परार्थ ही की ओर लक्ष्य रखा गया है। पर स्वरक्षा के लिए स्वार्थ पर दृष्टि रखना आव-श्यक है, आत्मरक्षा पहला धर्म है। ईसाई मत की शिक्षा है कि 'जो तुम्हे एक गाल मे चपत मारे उसके लिए दूसरा गाल भी फेर दो, अपने वैरियो से प्रेम करो, जो तुम्हें शाप दे उन्हे आशीर्वाद दो, जो तुम्हें सतावे उनके कल्याण के लिए प्रार्थना करो'' इत्यादि। ये बाते सुनने मे तो बहुत अच्छी

लगती है पर अस्वाभाविक हैं और व्यवहार में नहीं चल सकतीं। यदि कोई दुष्ट धूर्त्तता करके हमारा आधा माल उठा ले जाय तो क्या हमें यही चाहिए कि हम बाकी आधा भी उसके आगे उठा कर रख दें। यदि व्यापार, राजनीति आदि में इन उपदेशों का पालन किया जाय तो क्या दशा होगी। अतः यही कहना पड़ता है कि ईसाई आदि मत एकांगदर्शी हैं। उनमें परार्थभाव को तो बढ़ा कर कल्पित आदर्श खड़े किए गए हैं पर स्वार्थ का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया है। यही कारण है कि 'परउपदेश-कुशल' लोगों की बातें मनुष्य समाज के बीच कहीं नहीं पाई जातीं।

दूसरी बात यह है कि ईसाई धर्मपुस्तक में शरीर को एक क्षणभंगुर पिंजरा मात्र समझने के कारण उसकी रक्षा के लिए शौच आदि नियमों का समावेश नहीं है। हिन्दूधर्म में नित्यस्नान आदि के जैसे नियम हैं वैसे ईसाई मत में नहीं, यहाँ तक कि कैथलिक संप्रदाय के बहुतेर मठों में सब से पवित्र और धार्मिक वह समझा जाता है जो शरीर के मैले कुचैले रहने की परवा नहीं करता, अपने कपड़े धोने धुलाने की चिंता नहीं करता, किसी काम के किनारे नहीं फटकता और अनेक प्रकार के व्रत, उपवास तथा स्तुतिपाठ आदि में ही सारा समय व्यतीत करता है। जैन आदि कुछ मतों में शौच का इतना अभाव है और व्रत उपवास आदि के नियम इस हद तक पहुँचाए गए हैं कि आश्चर्य होता है। शौचसंबंधी आचार प्रथम धर्म है—आचारः प्रथमो धर्मः। इसी प्रकार शरीर-रक्षा भी प्रधान कर्त्तव्य है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

एक और बड़ा भारी दोष ईसाई आदि पैगंबरी (शमई या इबरानी) मतो मे यह है कि उनमे मनुष्य सारी सृष्टि से अलग किया जाकर एक अतीत पद को पहुँचा दिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि सारी सृष्टि मनुष्य ही के लिए है, उसमे जो कुछ होता है सब मनुष्य ही के हानि-लाभ के लिए। आदमी न होता तो शायद दुनिया भी न होती। इन मतो मे मनुष्य की दृष्टि मनुष्य ही तक रह गई है, आगे सृष्टि के उस अपार विस्तार की ओर ज़रा भी नहीं गई है मनुष्य जिसका एक क्षुद्र से क्षुद्र अंश मात्र है। बाइबिल में मनुष्य ने अपने को 'ईश्वर की प्रतिमूर्ति' कहा है पर सच पूछिए तो ईश्वर को ही उसने अपनी प्रतिमूर्ति समझा है। अपनी प्रधानता के मद में इन मतप्रवर्त्तको ने यह न समझा कि कुत्ते, बिल्ली, बंदर आदि जो सुख दु ख अनुभव करनेवाले और प्रयत्नशील जीव है उन्हीं मे से एक मनुष्य भी है। अहंकारवश यदि मनुष्य अपने को अलग समझे और अपने से छोटे जीवो के जी को जी न समझे तो यह उसकी सरासर भूल है। सम्यक दृष्टि के अभाव से ही ईसाई आदि मतो मे अन्यजीवों (गाय, भैंस, कुत्ते, बदर इत्यादि) के प्रति दया और स्नेह का वैसा भाव थोड़ा बहुत भी नहीं पाया जाता जैसा हिन्दू, बौद्ध आदि धर्मों मे कूट कूट कर भरा हुआ है। ईसाई देशो मे जाकर देखिए कि पशुओं के प्रति कितनी निष्ठुरता की जाती है, किस निर्दयता से उनके प्राण लिए जाते हैं। ईसाई लोग पशुओ के जी को जी ही नहीं समझते। इस विषय मे हमारा तत्त्वाद्वैत धर्म कितना उदार है! डारविन ने अपने विकाश-

वाद द्वारा हमें यह सुझा दिया है कि हमारी उत्पत्ति बनमानुसो से हुई है और सब जीव एक ही प्रकार के मूल अणुजीवो से क्रमशः विकाश द्वारा उत्पन्न हुए हैं। अतः यों तो सभी जीव हमारे सबधी हैं पर स्तनपायी पशु हमारे सगे हैं। आधुनिक शारीरक या शरीरव्यापारविज्ञान ने हमे यह बतला दिया है कि हम मे-और उनमें एक ही प्रकार के सवेदन सूत्र हैं, एक ही प्रकार की इन्द्रियाँ हैं और एक ही प्रकार की सुख दुःख अनुभव करने की वृत्ति है। कोई तत्त्वाद्वैतवादी या प्रकृति-विज्ञानी पशुओ के प्रति वैसी निष्ठुरता और क्रूरता नहीं कर सकता जैसी ईश्वर के सगे बनकर इसाई लोग करते है। ईसाई मत हमे प्रकृति के प्रेम से दूर रखता है।

ईसाई आदि वैराग्यप्रधान मतो में सांसारिक जीवन तो कुछ समझा ही नहीं गया है अत उनकी शिक्षाओ पर लोग यदि चले तो फिर वही दशा हो कि "सकल पदारथ हैं जग माहीं। भाग्यहीन नर पावत नाहीं॥" विज्ञान ने जो रेल, तार, आदि के सुबीते कर दिए है, सगीत, चित्रकारी आदि मे जो अपूर्व चमत्कार आविष्कृत हुए हैं वे सब सभ्य मनुष्य के 'सासारिक सुख' हैं अत. उनसे सच्चे ईसाइयों को, सच्चे विरक्तो को, दूर ही रहना चाहिए। अस्तु, यही कहना पड़ता है कि ईसाई मत सभ्यता का शत्रु है। यही तक नहीं उस पारिवारिक जीवन की भी ईसाई मत उपेक्षा करता है जो समूह में रहनेवाले समस्त उच्च कोटि के प्राणियो का प्रकृत लक्षण हैं। परलोक की ओर ही लौ लगाए रखने के कारण ईसा ने इस लोक के पारिवारिक कर्त्तव्यों की ओर ध्यान नहीं

दिया । अपने मातापिता के प्रति उनके स्नेह का कोई दृष्टांत पाया नहीं जाता । स्वयं घरबारी न होने के कारण दाम्पत्य प्रेम की वे निन्दा ही करते रहे। उनके शिष्य पाल ने यहाँ तक कहा है कि "स्त्री का स्पर्श तक करना बुरा है।" यदि इस शिक्षा पर दुनिया चलती तो धर्म अधर्म का आधार ही नष्ट हो जाता । पारिवारिक जीवन ही उन्नति का प्रथम विकाश है । पारिवारिक जीवन से सामाजिक जीवन का और सामाजिक जीवन से राजनैतिक या राष्ट्रीय जीवन का विकाश होता है । स्त्रियो की उपेक्षा करने से संसार नहीं चल सकता । स्त्री और पुरुष दोनो समाज के अग है, दोनो के मेल से ही अर्थ, धर्म आदि का साधन हो सकता है । ज्यो ज्यो सभ्यता बढ़ी स्त्री जाति का महत्त्व स्वीकार किया गया, स्त्री पुरुप की अर्द्धांगिनी कहलाई । स्त्रियो के रूप गुण आदि द्वारा मनुष्य में सौंदर्य्य की भावना का कितना विकाश हुआ है और काव्य तथा चित्रकला आदि मे कितनी मोहिनी शक्ति आई है ! पर स्त्रियो को "पैर की धूल" समझनेवाली प्राचीन असभ्य जातियो का भाव ईसा मे भी भरा था ।

ईसा के इस भाव का परिणाम यह हुआ कि पोप प्रवर्तित ईसाई मत मे उपदेशको और पादरियो के लिए अविवाहित रहने का कठोर नियम बनाया गया । पर इस कठोर नियम का फल क्या हुआ ? व्यभिचार की घोर वृद्धि । पोप के अधीन धर्माचार्य्य लोग जिस समय नास्तिको के दंड की व्यवस्था देने बैठते थे उस समय वे व्यभिचारिणी स्त्रियों से

घिर कर बैठते थे। पादरियो के व्यभिचार की सीमा इतनी बढ़ी की प्रजा घबरा गई। अब भी योरप के उन देशो में जिन मे कैथलिक संप्रदाय के ईसाई बसते हैं अविवाहित रहने के नियम के विरुद्ध आन्दोलन चला करते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि ससार में प्रचलित भिन्न भिन्न मतों या मजहबो के प्रति वर्त्तमान सभ्य राज्यों का क्या कर्त्तव्य है। कहने की आवश्यकता नही कि अब वह समय आ गया है जब राज्य से किसी मत विशेष से कोई लगाव न रहे। न राज्य अपनी ओर से किसी मत को आश्रय दे, न सतावे। किसी मजहब के प्रचार आदि के लिए राज्य की ओर से कोई प्रयत्न नही होना चाहिए। सब मज़हबवालो को अपने अपने विश्वास के अनुसार चलने देना चाहिए। हॉ यदि कोई संप्रदाय ऐसा है जिसके विधान व्यभिचारमय है और जिससे सदाचार को धक्का पहुँचने की संभावना है तो उस पर कुछ रोक रखनी चाहिए, बस। दूसरी बात यह है कि सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए जो व्यवस्था हो वह मतमतान्तरो से सर्वथा स्वतंत्र रहे। विद्यालय मे मत मतान्तरो की शिक्षा को स्थान न देना चाहिए। यह बालको के माता पिता का काम होना चाहिए कि वे उनका विश्वास जिस मत या मजहब पर चाहे जमावे। स्कूलो और कालिजो को मजहबी झगड़ो से अलग रखना चाहिए। वे शुद्ध ज्ञान के मन्दिर है। उनमे मानसिक शक्ति की वृद्धि की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उनमें से निकले हुए लोगों को अन्वीक्षण द्वारा सृष्टि के नाना रहस्यों को समझने मे सहायता मिले।

सर्वसाधारण की शिक्षा के संबंध मे नीचे लिखी बातो का ध्यान यदि रखा जाय तो बहुत अच्छा हो।

(१) अब तक शिक्षा का जो क्रम रहा है उसमे मनुष्य की कृतियो का परिचय कराने की ओर ही अधिक प्रवृत्ति रही है। व्याकरण, कानून, धर्मशास्त्र आदि पर अधिक ज़ोर रहा है जिनमे मनुष्यो के बनाए हुए नियम संगृहीत है। प्रकृति के अध्ययन की ओर उतना ध्यान नहीं रहा है।

(२) अब जो विद्यालय होगे उनमे अध्ययन की प्रधान वस्तु होगी प्रकृति। यह जगत् किस प्रकार का है इस बात को अब शिक्षा प्राप्त कर के लोग समझेगे। वे अपने को प्रकृति से अलग करके न देखेगे बल्कि उसी का एक सर्वोच्च विकाश समझेंगे।

(३) अब तक संस्कृत, अरबी, लैटिन, यूनानी इत्यादि पुरानी भाषाओ के पठन-पाठन में बहुत लोगों का बहुत अधिक समय लगाया जाता था। इन भाषाओ का जानना ज़रूरी है पर एक हद तक, सो भी सब के लिए नहीं। अब इन भाषाओ के बिना भी ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। दर्शन, विज्ञान आदि के नवीन तत्त्व अब प्रचलित भाषाओ मे ही लिखे जाते हैं।

(४) अब प्रचलित देशभाषाओ की उन्नति की ओर ही ध्यान होना चाहिए, उनमें नई पुरानी सब बातों का समावेश होना चाहिए।

(५) इतिहास की शिक्षा में ऊपरी बातों (जैसे राजवंश-परंपरा, युद्ध इत्यादि) की ओर उतना ध्यान न होना चाहिए

जितना किसी जाति की आभ्यतर दशा तथा उसकी सभ्यता और ज्ञान की वृद्धि और ह्रास के क्रम की ओर।

(६) विकाशशास्त्र की शिक्षा की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि जगद्विकाश-विज्ञान की शिक्षा हो। भूगोल के साथ भूगर्भशास्त्र, प्राणिविज्ञान और मानवविज्ञान (जिसमे मनुष्यजाति के विकाश आदि का विस्तृत वर्णन होता है। की भी शिक्षा अवश्य होनी चाहिए।

(७) प्राणिविज्ञान के स्थूल तत्त्वो का ज्ञान प्रत्येक शिक्षित पुरुष को होना चाहिए। वैज्ञानिक शिक्षा द्वारा अन्वीक्षण की शक्ति प्राप्त हो जाने से उनकी ओर चित्त आप से आप आकर्षित होगा। पीछे शारीरक (शरीरव्यापारविज्ञान और अगविच्छेदशास्त्र) का भी कुछ अभ्यास कराना चाहिए।

(८) पदार्थविज्ञान और रसायनशास्त्र की शिक्षा भी गणित के साथ साथ अवश्य होनी चाहिए।

(९) रेखाओ द्वारा आकृति लेखन (ड्राइंग) और यदि हो सके तो थोड़ी बहुत चित्रकारी का अभ्यास भी प्रत्येक छात्र को होना चाहिए। फूलपत्ते, पशु, पक्षी, समुद्र, मेघ, आदि के अपने हाथ से बनाए चित्रो के द्वारा मनोरंजन भी होगा और प्रकृति के अन्वीक्षण की उत्कंठा और उसके रहस्यो को समझने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होगी।

(१०) छात्रो के व्यायाम की ओर भी अधिक ध्यान रखना होगा। कसरत करने और तैरने का अभ्यास सबको रहना चाहिए। पर सब से अच्छा तो यह होगा कि कम से कम सप्ताह मे एक दिन दूर दूर तक भिन्न भिन्न स्थानो मे पैदल

सैर करने जाया करे। इससे उन्हे प्रकृति के नाना पदार्थों के अन्वीक्षण का अवसर मिलेगा। इस प्रकार के अन्वीक्षण द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होगा वह अधिक स्थायी होगा।

अब तक शिक्षा का उद्देश्य यही समझा जाता रहा है कि छात्र ऐसे व्यवसायो और ऐसे राजकीय पदो के लिए तैयार हो जाँय जो समाज मे प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। अब से शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह होगा कि उनमें स्वतंत्र विचार करने की और, सीखी हुई बातो को स्पष्ट रूप से समझने की 'शक्ति आवे। यदि ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना वाञ्छनीय है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को राजकीय सदस्य आदि चुनने का अधिकार हो तो यह आवश्यक है कि शिक्षा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि इस प्रकार उन्नत और परिष्कृत कर दी जाय कि वह राज्य का हित अहित समझ सके।

दसवाँ प्रकरण

जगत् के रहस्यों का उद्घाटन

अब यह देखना है कि विज्ञान के अनेक अंगो की अपूर्व उन्नति से जगत् के रहस्यो का कहाँ तक उद्घाटन हुआ है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इधर सौ वर्षों के बीच प्रकृति के नाना क्षेत्रों का जितना सूक्ष्म अनुसंधान हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। बहुत से ऐसे नए नए शास्त्रों और विज्ञानों की स्थापना हुई है जिनकी ओर सौ वर्ष पहले किसी का ध्यान भी न गया था। अब विचारने की बात यह है कि ज्ञान विज्ञान की इस उन्नति से हम जगत् के नाना विधानो को समझने मे अधिक समर्थ हुए हैं अथवा जैसे पहले थे वैसे ही हैं। मेरा कहना यह है कि हम कहीं अधिक समर्थ है। विज्ञान ने दिखा दिया है कि कार्य्यकारण का भौतिक नियम समस्त जगत् मे चलता है और समस्त जगत् को चलाता है। कोई वस्तु उसके बाहर नहीं। मनुष्य का अंतःकरण भी इसी कार्य्यकारण-परम्परा द्वारा उत्पन्न हुआ है और चल रहा है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि विज्ञान के मुख्य मुख्य क्षेत्रो मे जो अभूतपूर्व उन्नति हुई है उसका संक्षेप में उल्लेख कर दिया जाय।

१ ज्योतिर्विज्ञान की उन्नति

मनुष्य ने अपने विकाश आदि का ज्ञान तो अब प्राप्त किया है पर आकाश के नक्षत्रों और ग्रहो की स्थिति के संबंध

मे सभ्य जातियों ने पाँच हजार वर्ष पहले भी बहुत जानकारी प्राप्त की थी। हिंदू, चीनी, मिस्री इत्यादि प्राचीन पूर्वीय सभ्य जातियों को ज्योतिष की जितनी जानकारी थी उतनी योरप के ईसाइयो को उनसे चार हजार वर्ष पीछे भी नहीं प्राप्त थी। चीन देश मे ईसा से २६९७ वर्ष पहले एक सूर्य्य ग्रहण का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया था और ११०० वर्ष पहले क्रान्तिवृत्त का धरातल शकु के प्रयोग द्वारा निश्चित किया गया था। बेचारे ईसा को ज्योतिष का कुछ भी ज्ञान न था। वे आकाश और पृथ्वी को किसी के हाथ की बनाई चीजे समझते थे। पृथ्वी ही को वे सम्पूर्ण जगत् का केंद्र और मनुष्य ही को सब कुछ समझते थे। अत ईसाई मत के कारण योरप मे ज्योतिष के सबध में बहुत दिनो तक कुछ भी उन्नति नहीं हो सकी। अत मे सन् १५०० मे जब कोपरनिकस ने टालमी के सिद्धात का खडन करके यह सिद्धात स्थापित किया कि सूर्य्य ही केद्र है जिसकी पृथ्वी इत्यादि ग्रहपिंड परिक्रमा कर रहे हैं तब ईसाई धर्म्माचार्य्यों मे बड़ा कोलाहल मचा क्योकि ईसाई मत की दृष्टि में पृथ्वी ही जगत् का केद्र है और मनुष्य ही उसका एकमात्र अधिष्ठाता देवता है। पीछे गैलीलियो और केप्लर ने कोपरनिकस के सिद्धांत को पुष्ट करते हुए ग्रहो की गति आदि का भौतिक नियमानुसार निरूपण किया। अत मे सन १६८६ मे न्यूटन ने अपने आकर्षणसिद्धांत द्वारा गति की मीमांसा की और आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान की दृढ़ नीवँ डाली।

सन् १७५५ में प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने सम्पूर्ण जगत्

के प्राकृतिक विकाश का क्रम न्यूटन के सिद्धात के आधार पर निरूपित किया। लाप्लेस अपनी स्वतंत्र परीक्षाओं द्वारा उसी सिद्धांत पर ,पहुँचा जिस पर कांट पहुँचा था। उसने संपूर्ण जगत् की गति को प्राकृतिक या भौतिक विधान सिद्ध कर दिया और नए नए अनुसंधानो के लिये मार्ग खोल दिया। फोटो-ग्राफी और रश्मि-विश्लेपण के द्वारा ज्योतिष के साथ भौतिक विज्ञान और रसायन का योग हुआ जिससे एक बड़ा भारी सिद्धांत निकला। यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि समस्त विश्व मे एक ही द्रव्य का प्रसार है। जिस द्रव्य से हमारा यह भूपिंड बना है उसी द्रव्य से सूर्य्य, चद्र, मंगल, बुध इत्यादि सब ग्रह नक्षत्र आदि बने हैं और उस द्रव्य के जो भौतिक और रासायनिक गुण हम यहाँ देखते हैं वे ही सर्वत्र है।

ज्योतिष के साथ विज्ञान के मिलने से जिस ज्योतिर्वि-ज्ञान की सृष्टि हुई उसकी सहायता से अब हमे निश्चय हो गया है कि समस्त विश्व वस्तुत एक है--एक ही अद्वितीय तत्व का प्रसार सर्वत्र है। यह नहीं है कि जिस द्रव्य को अनेक रूपो मे हम इस पृथ्वी पर पाते हैं उससे परे या सर्वथा भिन्न कोई और तत्व दूसरे लोको या ग्रहनक्षत्रपिंडो मे है। द्रव्य के गुण जो यहाँ हैं वे ही अंतरिक्ष के सब भागो मे हैं। जो भौतिक नियम यहाँ चलते हैं वे ही सर्वत्र चलते हैं। जगत् की गति नित्य है। उसके प्रत्येक भाग मे रूपान्तर या परिवर्त्तन का क्रम सदा चलता रहता है। प्रकृति के भीतर विकृति का क्रम अलग अलग बराबर जारी रहता है। भारी भारी दूरबीनों से यदि हम अंतरिक्ष

मे चारों ओर देखते हैं तो कहीं कहीं लपट के रूप का अत्यंत सूक्ष्म और पतला ज्वलंत वायव्य पदार्थ फैला दिखाई पड़ता है जिसे ज्योतिष्क-नीहारिका कहते हैं। इसके ताप और तेज का अनुमान तक हमलोग नहीं कर सकते। इसी को हम हिरण्यगर्भ * कह सकते हैं जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है। इसी तेज.पुंज के जमने से ग्रह नक्षत्र आदि के पिंड बनते हैं। यह द्रव्य का वह प्रारंभिक रूप है जो रासायनिक मूल द्रव्यों मे विभक्त नहीं हुआ रहता। सब से मूल साम्यावस्था मे तो द्रव्य ग्राह्य और अग्राह्य (ईथर वा आकाश द्रव्य) इन दो रूपों में भी विभक्त नहीं रहता। जिस प्रकार आकाश में कहीं कहीं लोकों के उपादान तेज पुंज दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार कहीं कहीं ऐसे तारे भी दिखाई पड़ते है जो ज्वलंत वायव्य पदार्थ के कुछ ठंढे पड़ने से देदीप्यमान द्रवपदार्थ (जैसे गरमी से पिघल कर पानी से भी पतला होकर बहता हुआ लाल लोहा) के रूप मे हो गए हैं। कहीं ऐसे तारे मिलते हैं जो बिलकुल ठंढे पड़ गए हैं; जिनमे कुछ भी गरमी नहीं रह गई है। शनि के समान बहुत से ऐसे तारे भी देखे जाते हैं जो चारो ओर घूमते हुए ज्योतिर्वलय से वेष्टित रहते हैं। ज्योतिष्क-नीहारिका के ये वलय क्रमशः जमते जमते चंद्रमा बन जायँगे जो उन तारों की परिक्रमा किया करेंगे।

---

* हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

(ऋ० १०-१२१-१)

अर्थात् पहले हिरण्यगर्भ था और उस हिरण्यगर्भ से सब सृष्टि उत्पन्न हुई।

हमारा चंद्रमा वलय के रूप मे था जो जम कर पृथ्वी से उसी प्रकार अलग हुआ है जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य्य से अलग हुई है। कौन सा तारा विकाश की किस अवस्था मे है इसका बहुत कुछ पता हमे उसके रंग से लग सकता है।

बहुत से नक्षत्र, जिनके प्रकाश के यहाँ तक पहुँचने मे हजारो वर्ष लगते है, हमारे सूर्य्य के ही समान है। उनके अधीन भी अनेक ग्रह उपग्रह हैं जो उनकी परिक्रमा किया करते है। इन ग्रहो मे से हजारो लाखो ऐसे होगे जो उसी अवस्था में होगे जिस अवस्था मे हमारी पृथ्वी है—अर्थात् उनके ऊपर न तो इतना उग्र ताप ही होगा कि जल वाष्प के रूप मे ही रहे और न इतनी गहरी सरदी ही होगी कि वह ठोस हो कर ही जमा रहे। उनमें भी जल द्रव अवस्था में होगा। जल की इसी अवस्था मे अंगारक द्रव्य (कारबन) मे वह अपूर्व सयोग संभव होता है जिससे कललरस का प्रादुर्भाव होता है। यही कललरस जीवनतत्त्व है। अत्यत सूक्ष्म जीवाणु कललरसरूप ही होते हैं और अगारक और नाइट्रोजन के संयोग विशेष से स्वत' उत्पन्न होते है। बहुत संभव है कि पृथ्वी से मिलती जुलती अवस्थावाले ग्रहो में भी जीवोत्पत्ति उसी क्रम से हुई हो जिस क्रम से पृथ्वी पर हुई है। जीवोत्पत्ति के लिए जल का द्रव रूप मे होना आवश्यक है। जो तारे तरल तेज' स्वरूप हैं उनमे जल भाप के ही रूप मे रहता है और जो नक्षत्र या सूर्य्य जीवन-शक्ति का विसर्जन कर के बिलकुल ठंढे हो गए हैं उनमे जल जब रहेगा तब ठोस बर्फ के रूप मे। ऐसे तारो मे जीव नहीं

रह सकते। अपने वर्त्तमान ज्ञान के अनुसार, हम नीचे लिखी बातो का अनुमान कर सकते है—

(१) यह बहुत संभव है कि जिस प्रकार क्रमश हमारी पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति हुई है उसी प्रकार हमारे इस सूर्य्य के और ग्रहो मे (जैसे, मगल और शुक्र) तथा दूसरे सूर्य्यों के ग्रहो मे भी हुई हो—अर्थात् आदि मे कललरस के अणुरूप जीव मोनरा और फिर उनसे एकघटक अणुजीव (पहले अणूद्भिद और फिर कीटाणु) उत्पन्न हुए हो।

(२) यह बहुत सभव है कि इन एकघटक अणुजीवो से पहले घटको के समूहपिंड (जैसे, स्पंज आदि) बने हो और फिर तंतुजाल द्वारा एकीभूत अनेक घटक जीवो का प्रादुर्भाव हुआ हो।

(३) यह बहुत सभव है कि पौधो मे पहले निरवयव निष्पुष्प पौधे (जैसे, भुकडी, खुमी आदि जिनमे जड़, डालपत्ते, फूल आदि नहीं होते केवल घटको की तह पर तह मात्र होती है) उत्पन्न हुए हो फिर दलकांडयुक्त निष्पुष्प पौधे (जैसे, पानी के ऊपर की काई, सेवार आदि जिनमे डालपत्ते तो होते है पर जड़ नहीं होती) और सब के पीछे पुष्पवान् पौधे।

(४) यह बहुत ही संभव है कि जंतुओ की उत्पत्ति भी इसी क्रम से हुई हो अर्थात् पहले कललात्मक अणुजीवो से कलात्मक अनेकघटक जीव (जिनके शरीर मे घटकजाल की दो झिल्लियो से बना केवल एक कोठा होता है जैसे स्पंज, मूँगा) और उनसे द्विकोष्ठ जीव (जिनके शरीर के कोठे से पेट का कोठा अलग होता है) उत्पन्न हुए हो।

(५) पर इसमे बहुत संदेह है कि इस पृथ्वी पर जीवधारियो की भिन्न भिन्न शाखाएँ जिन जिन रूपो मे प्रकट हुई हैं ठीक उन्ही रूपों मे और ग्रहों पर भी प्रकट हुई हैं। सभव है कि जीवों की शाखाओ ने वहाँ भिन्न भिन्न रूप धारण किए हो। वहाँ और ही आकार प्रकार के जीव मिलते हो।

(६) कौन कह सकता है कि और ग्रहो पर भी रीढ़वाले जतु हुए हो और उनमें फिर लाखो वर्ष के अनन्तर दूध पिलाने वाले जंतु हुए हो जिनमे सब से श्रेष्ठ मनुष्य नाम का प्राणी हुआ हो। ऐसा कहने के पहले यह मानना पड़ेगा कि उन ग्रहों पर भी ठीक ठीक ब्योरेवार वे ही घटनाएँ हुई है जो यहाँ हुई हैं। पर ऐसा मानना कठिन है।

(७) अस्तु यह बात अधिक संभव जान पड़ती है कि और और ग्रहों पर और ढाँचे के उन्नत जीव उत्पन्न हुए हो जो इस पृथ्वी पर नही पाए जाते। जैसे यहाँ रीढवाले जंतुओ मे मनुष्य हुआ वैसे ही संभव है वहाँ किसी और ही उन्नत शाखा से मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली और ज्ञानसंपन्न जीव उत्पन्न हुए हो।

(८) इस बात की कभी संभावना नहीं कि दूसरे ग्रहो के निवासियो के साथ कभी हमारी बातचीत हो सके क्योकि एक तो वे बहुत ही दूर हैं, दूसरे पृथ्वी के और उनके बीच बराबर हवा नही है केवल ईथर या आकाशद्रव्य मात्र है।

पहले बतलाया जा चुका है कि जिस प्रकार बहुत से तारे उसी अवस्था में है जिस अवस्था मे हमारी पृथ्वी है उसी प्रकार

बहुत से ऐसे भी हैं जो इस अवस्था को पार कर गए हैं और इतने जीर्ण हो गए हैं कि नष्ट होने के निकट हैं। यही दशा कभी हमारी पृथ्वी की भी होने वाली है। बात यह है कि किसी लोकपिंड को लीजिये उसके ताप का बराबर विसर्जन होता रहता है—उसकी गरमी निकल निकल कर बराबर आकाश मे लीन होती जाती है। गरमी जब बिल्कुल घट जायगी तब सारा जल जम कर ठोस बर्फ के रूप मे हो जायगा और सम्पूर्ण प्राणियो का—क्या जतु क्या वनस्पति-नाश हो जायगा। घूमता हुआ लोकपिड और भी ठोस होता जायगा और उसके परिभ्रमण की गति बराबर मंद पडती जायगी। सूर्य्य से जितनी दूरी पर वह परिक्रमा कर रहा है वह बराबर घटती जायगी और वह सूर्य्य के निकट आता जायगा। यही दशा अत मे सब ग्रहो और उपग्रहो की होगी। उपग्रह ग्रहो पर जा गिरगे और ग्रह सूर्य्य मे जा पड़ेगे जिससे वे निकले थे। इस घोर सघर्ष से अत्यत प्रचुर परिमाण मे फिर ताप उत्पन्न होगा। जिस द्रव्य से लोकपिंड बने थे वह चूर्ण हो कर अंतरिक्ष मे दूर तक व्याप्त हो जायगा और उसी से नए सूर्य्य और नए लोकों की उत्पत्ति का विधान फिर से चलेगा। इस प्रकार अनंत लोकपिंड बनते और बिगडते रहते हैं। अंतरिक्ष मे कहीं नए सूर्य्य और नए लोकपिंड बन रहे हैं, कहीं पुराने सूर्य्य और ग्रहपिंड नाश को प्राप्त हो रहे हैं। उत्पत्ति और लय का यह क्रम सदा साथ साथ चलता रहता है। द्रव्य कभी एक अवस्था मे नहीं रहता। कहीं तेजस् वा ज्योतिष्क-नीहारिका से नए लोको का गर्भाधान हो रहा है,

कहीं उससे बहुत दूर ज्योतिष्क नीहारिका से जम कर तरल अग्नि का बड़ा भारी घूमता हुआ गोला बन गया है, दूसरी ओर देखिए तो उसी प्रकार के घूमते हुए गोले के क्रान्तिवृत्त से वलय टूट कर अलग हो गए हैं जो क्रमशः जम कर उस बड़े गोले की परिक्रमा करने वाले ग्रह के रूप में हो रहे हैं, कहीं वह गोला खासा सूर्य्य हो गया है जिसकी परिक्रमा अनेक ग्रह अपने चद्रमाओं या उपग्रहों के साहित कर रहे हैं। सारांश यह कि अंतरिक्ष के बीच द्रव्य कहीं किसी अवस्था में और कहीं किसी अवस्था में पाया जाता है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने से द्रव्य के परिमाण में कोई घटती या बढ़ती नहीं होती। उत्पत्ति और लय का यह चक्र भिन्न भिन्न स्थानों में चलता है पर द्रव्य और शक्ति का योग विश्व में सदा वही रहता है। परमतत्त्व नित्य और अक्षर है।

२ भूगर्भशास्त्र की उन्नति

भूगर्भशास्त्र का यथार्थ ज्ञान न होने से प्राचीनों को पृथ्वी की उत्पत्ति आदि के संबंध में पक्की जानकारी नहीं थी। बहुत दिनों तक लोग धर्मग्रंथों में दी हुई कथाओं पर ही संतोष किए बैठे थे। यहूदी और ईसाई यही समझे हुए थे कि पृथ्वी को बने केवल छ हजार वर्ष हुए। पृथ्वी बनी किस प्रकार इसका उत्तर देने के लिए वे मूसा की कहानी का ही सहारा लेते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि मूसा ने जो सृष्टिकथा लिखी है वह प्राचीन असुरों और हिन्दुओं की

पौराणिक कथाओं से ली गई है । सन् १७५० के उपरान्त पृथ्वी की नाना तहों की जाँच शुरू हुई जिससे बहुत सी नई बातों का पता लगा । भूगर्भशास्त्र के संस्थापक वर्नर का कहना था कि पृथ्वी की जितनी तहें हैं सब की सब जल के भीतर बनी हैं । पर १७८८ में हटन आदि वैज्ञानिकों ने यह निर्धारित किया कि केवल पर्त्तवाली तहें या चट्टानें जल के भीतर बनी हैं. इसी से उनमें पूर्वकाल के प्राणियों के पंजर पाए जाते हैं । बाकी जो ढोंकों की आग्नेय पर्वतश्रेणियाँ हैं उनकी चट्टानें आग से पिघले हुए द्रव्य के ठंढे पड कर जमने से बनी हैं । सन् १८३० में लायल ने यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी का तल लगातार होनेवाले प्राकृतिक व्यापारों के द्वारा बहुत धीरे धीरे अपने वर्त्तमान रूप को पहुँचा है । फिर इस विश्वास के लिए कोई जगह नहीं रह गई कि किसी दैवी प्रेरणा से पृथ्वी बात की बात में बन गई ।

सब से बड़ा काम उन अस्थिपंजरों की परीक्षा द्वारा हुआ जो पृथ्वी की नाना तहों के भीतर पाए गए । पृथ्वी के भिन्न भिन्न कल्पों का भोगकाल और उन कल्पों के प्राणियों का बहुत कुछ ब्योरा इस परीक्षा द्वारा मालूम हुआ । यह बात पूर्णतया निश्चित हो गई कि पृथ्वी की वह ठोस पपड़ी जिस पर हमलोग बसते हैं द्रव अग्नि के गोले के क्रमशः ठंढे पड़ कर जमने से बनी है । कड़ी पपड़ी के सुकड़ने, पिघले हुए आग्नेय द्रव्य के ठंढी सतह पर आने, तथा जल की क्रीड़ा से ही पृथ्वी की परतें और पहाड़ आदि बने हैं । ये शक्तियाँ अब भी बराबर कार्य्य कर रही हैं पर उनका

कार्य्य इतने धीरे धीरे होता है कि हमे उसका कुछ भी, पता नहीं लगता।

आधुनिक भूगर्भविद्या की दो बातें तो सब दिन के लिए सिद्ध हो गई। एक तो यह कि इस भूतल और उस पर के पहाड़ो आदि की रचना किसी भूतातीत चेतन शक्ति के द्वारा बात की बात मे नहीं हुई है। दूसरी यह कि इस सृष्टि को हुए जितना काल पैगबरी मतवाले समझते थे उससे कही अधिक काल एक एक पहाड़ या चट्टान की तह बनने मे लगा है।

३—भौतिकविज्ञान और रसायन की उन्नति।

इन सौ वर्षों के बीच विज्ञान मे जो उन्नति हुई है वह किसी से छिपी नही है। भाप और बिजली के द्वारा मनुष्य के नाना व्यापारो मे जो अपूर्व चमत्कार आ गया है उससे सत्य ज्ञान का प्रभाव प्रत्यक्ष है। व्यवहार के जितने अंग है–क्या व्यापार, क्या कृषि, क्या शिल्प, क्या चिकित्सा–सब मे विज्ञान द्वारा अपूर्व उन्नति हुई है। व्यवहारदृष्टि से भी कही अधिक तत्वदृष्टि से इस उन्नति का महत्व हमे स्वीकार करना पड़ता है। प्रकृति का अधिक ज्ञान होने से अब हम जगत् के रहस्यो पर पहले से कहीं अधिक ठीक विचार कर सकते हैं। विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर जो दार्शनिक सिद्धांत स्थिर किए जायँगे वे कहीं अधिक सुसंगत होगे।

४—प्राणिविज्ञान की उन्नति।

इस विद्या का पहले लोगो को कुछ भी ज्ञान नही था। इधर सौ वर्षों के बीच प्राणियों के संबंध में जितनी बातों

का पता लगा है पुराने समय के लोगों के अनुमान तक में वे नहीं आई थी। अंगविच्छेद शास्त्र, शरीरव्यापार-विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, जन्तुविभागशास्त्र, जंतुविकाशशास्त्र, जाति-विकाशशास्त्र में इतनी नई नई बातो का पता लगा है कि हमारी आँखें खुल गई हैं। प्राणिविज्ञान की उन्नति दो रूपो मे हुई है, एक तो बहुत सी बातों के अलग अलग और ठीक ठीक ब्योरे मालूम हुए हैं जिनसे बहुत कुछ काम निकलता है। दूसरे इन बातो की संगति मिलाकर देखने से प्राणतत्व तथा उसके कारण आदि के संबंध मे हम सुव्यवस्थित सिद्धांत स्थिर कर सकते हैं। इस क्षेत्र मे डारविन ने सब से बढ़कर काम किया। उसने यह दिखला दिया कि किस प्रकार सूक्ष्माति सूक्ष्म कललकणिका रूप जीवो मे से प्राकृतिक ग्रहण द्वारा क्रमश अनेक रूपो के जीव प्रकट हुए हैं। अब हम यह अच्छी तरह जानते है कि क्षुद्र कीटाणुओ से लेकर मनुष्य तक में एक ही तत्व का विधान नाना रूपों मे हुआ है, किसी मे कहीं से और किसी अतिरिक्त तत्त्व की योजना नहीं हुई है। मनुष्य की उत्पत्ति किस प्रकार क्रमशः बनमानुसों से हुई है यह अब अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है और आदिम क्षुद्र जीवों से लेकर मनुष्य तक की शृंखला दिखाई जा चुकी है।

उपसंहार

प्रकृति-परिज्ञान की उन्नति होने से इधर जगत्संबंधी बहुत से गुप्त भेद खुल गए हैं। अब केवल परमतत्त्व का भारी भेद रह गया है। वह सत्ता कैसी है जिसे वैज्ञानिक

विश्व या प्रकृति कहते हैं, दार्शनिक परमतत्त्व कहते है और भक्तजन ईश्वर या कर्त्ता कहते हैं ? क्या हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान की अपूर्व उन्नति ने इस "परमतत्त्व का भेद" खुल गया है अथवा कुछ खुलनेवाला है ? इस अंतिम प्रश्न के विषय मे यही कहना पड़ता है कि यह आज भी उसी प्रकार बना हुआ है जिस प्रकार ढाई हजार वर्ष पहले के तत्वज्ञों के सामने था। बल्कि यों कहना चाहिए कि इधर इस परमतत्त्व के अनेकानेक व्यक्त रूपों का जितना ही अधिक ज्ञान हमें होता जाता है, उसके दृश्य व्यापारों का जितना ही अधिक पता हमें लगता जाता है उतना ही इसका रहस्य हमारे लिए अभेद्य और अपार होता जाता है। वही कहावत है कि 'ज्यो ज्यो भीजै कामरी त्यों त्यों भारी होय।" इस नामरूपात्मक दृश्य जगत् की ओट मे वस्तुत. क्या है यह हम न जानते हैं और न जान सकते है। पर इस "वस्तुत." के फेर मे हम क्यो पड़ने जायँ, इसके लिए हम क्यो हैरान रहे जब कि हमारे पास उसके जानने का कोई साधन नहीं, जब कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व तक है या नहीं। अत इस काल्पनिक 'वास्तव सत्ता' के पीछे 'कल्पनात्मक दार्शनिक' ही पड़े रहें, हमें 'सच्चे वैज्ञानिको' के समान प्रकृति के संबध मे अपने उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञान पर आनंद मनाना चाहिए।

वर्त्तमान समय में सब से बड़ी बात यह हुई कि द्रव्य और शक्ति की अक्षरता सिद्ध हो गई। परमतत्त्व नित्यगति-शील और परिवर्त्तनशील है अतः विकाश का चक्र भी नित्य

और विश्वव्यापी है । सम्पूर्ण विश्व इस विकाश-नियम का वशवर्त्ती है । कोई वस्तु इससे परे नहीं, अतः प्रकृति की अद्वैत सत्ता हमें माननी पड़ती है । हमारा यह अद्वैतवाद इस बात की स्पष्ट घोषण करता है कि समस्त जगत् प्रकृति के अटल और शाश्वत नियमों पर चल रहा है । हमारे इस अद्वैतवाद द्वारा द्वैतभावापन्न दार्शनिकों के पुरुषोत्तम रूप ईश्वर, आत्मा के अमरत्व और आत्मस्वातंत्र्य इन तीन वितंडावादों का खडन हो जाता है। इसमें सदेह नहीं कि हममें से बहुतों को उन देवताओं के सब दिन के लिए विदा हो जाने पर बहुत दुःख होगा जो हमारे पुरखों को इतने प्रिय थे। उनका वियोग हमें बहुत दिनों तक खटकेगा । पर अब यह समझ कर ढाढ़स बाँधना होगा कि पुरानी बाते सब दिन नहीं बनी रह सकतीं ।

दुःख की कोई बात भी नहीं है । यदि परोक्षवाद और अंधविश्वास की पुरानी इमारत गिरी तो उसके स्थान पर विज्ञान की नई नीवँ पर प्रकृति का भव्य और विशाल मंदिर खड़ा हुआ । यदि 'पुरुषविशेष ईश्वर, आत्मस्वातंत्र्य और अमरत्व' का विश्वास हमने खोया तो उसके स्थान पर 'सत्य, सत्व और सौन्दर्य्य' की उपासना का प्रकृत धर्म स्थापित हुआ ।

अब तक जो कुछ कहा गया उससे हमारे विज्ञानानुमोदित तत्त्वाद्वैतवाद की व्याख्या स्पष्ट रूप से हो गई । इस अद्वैत-तत्त्ववाद का आजकल के प्राय. उन सब वैज्ञानिकों ने अनुमोदन किया है जिनमे सुसंगत सिद्धांत स्वीकार करने का

साहस है। पर अब भी बहुत से ऐसे दार्शनिक और विज्ञान वेत्ता हैं जो द्वैतभाव को नहीं छोड़ सके हैं जो द्रव्य औ शक्ति, शरीर और आत्मा, जगत् और ईश्वर, प्रकृति औ पुरुष को परस्पर भिन्न और स्वतंत्र कहते चले जाते हैं। इस दशा मे भी इस बात की पूरी आशा है कि इस विरोध का आगे चलकर बहुत कुछ परिहार हो जायगा और अंत मे एक अखंड, अद्वितीय सत्ता सब को मान्य होगी। सबसे विलक्षण बात तो यह है कि अधिकाश तत्त्ववेत्ता एक ओर तो प्रत्यक्षाश्रित विशुद्ध ज्ञान का स्वीकार करते जाते है, दूसरी ओर सस्कारवश परोक्षवाद और अंधविश्वास के लिए मार्ग ढूँढ़ते रहते हैं। पर विज्ञान द्वारा नए नए रहस्यो के उद्घाटन से हमारा प्रकृति-संबधी ज्ञान दिन दिन बढ़ रहा है जिससे आशा होती है कि यह विरुद्ध स्थिति न रहेगी और एक ही अद्वितीय विश्व की भावना के भीतर सब भेदों का अंतर्भाव हो जायगा।

इति

प्रकाशक—मंत्री, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
मुद्रक—ग कृ गुर्जर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस सिटी। ४२—२१

मनोरंजन पुस्तकमाला।

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्मा।
(५) ,, २ ,, ,,
(६) ,, ३ ,, ,,
(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दूबे बी. ए.
(१०) भौतिक विज्ञान—लेखक सपूर्णानंद बी. एस-सी एल टी.
(११) लालचीन—लेखक बृजनंदन सहाय।
(१२) कबीरवचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी.ए.।
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमार देव शर्म्मा।
(१७) वीरमणि—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम. ए और शुकदेवविहारी मिश्र बी. ए.।

(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक राधामोहन गोकुलजी ।
(१९) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार ।
(२०) हिंदुस्तान, पहला खंड—लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी. ए.
(२१) „ दूसरा खंड— „
(२२) महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद ।
(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक सपूर्णानंद बी. एस-सी , एल टी
(२४) आत्मशिक्षण—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम. ए. और शुकदेवविहारी मिश्र बी. ए. ।
(२५) सुंदरसार—संग्रहकर्त्ता हरिनारायण पुरोहित बी. ए. ।
(२६) जर्मनी का विकास, १ला भाग—लेखक सूर्यकुमार वर्म्मा ।
(२७) जर्मनी का विकास, २रा भाग—लेखक „ „
(२८) कृषि-कौमुदी—लेखक दुर्गाप्रसाद सिंह एल. ए-जी ।
(२९) कर्त्तव्य-शास्त्र—लेखक गुलाबराय एम ए., एल-एल. बी.
(३०) मुसलमानी राज्य का इतिहास, पहला भाग—लेखक मन्नन द्विवेदी बी ए. ।
(३१) मुसलमानी राज्य का इतिहास, दूसरा भाग—लेखक मन्नन द्विवेदी बी. ए. ।
(३२) महाराज रणजीतसिंह—लेखक वेणीप्रसाद ।
(३३) विश्वप्रपंच पहला भाग—लेखक रामचंद्र शुक्ल ।
(३४) „ दूसरा भाग—लेखक „